"रूह कोई जिस्म नहीं कि बदन में इस तरह चली जावे—जैसे पानी बर्त्तन में और न अर्ज़ (गुण) है, यानी ऐसी चीज़ नहीं जो कि दूसरे के साथ क़ायम (आश्रित) हो, और दिल व दिमाग़ में ऐसी घुस गई हो जैसे काली चीज़ में कालापन, या आलिम (विद्वान्) में इल्म (ज्ञान),—बल्कि वह जौहर है (द्रव्य है) यानी आप अपने आप में कायम है।"

इसी प्रकार शमसुल उलमा शिबली नैमानी, मौलाना अब्दुलहक़ साहब हक्कानी इत्यादि अनेक विद्वान् इस सचाई को खुले शब्दों में स्वीकार करते हैं।

सारांश

सारांश यह है कि—जीवात्मा शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है; वह अमर प्रभु की अमर प्रजा है; द्रव्य है, अणु है, चेतन है, कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है, वह नित्य है परन्तु अल्पज्ञ और अल्प शक्ति होने से प्रभु की कृपा का मोहताज रहता है, उसी के सहारे से शुभ कर्म और उच्च ज्ञान द्वारा मुक्ति आदि सद्गति प्राप्त करता है और उससे विमुख होकर दुष्ट कर्म वा अज्ञान वश नीच योनियों में दुःख भोगता है। यही वेद आदि शास्त्रों की सम्मति है और यही अन्य मतों की भी साक्षी है। इति

"जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है उसी को 'जीव' मानता हूँ।"—महर्षि दयानन्द।

जीव का परिमाण

एक कहानी

[आचार्य स्वामी आत्मानन्द जी महाराज]

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रन्तन्न आसुव।

एक दिन मित्रमण्डल में बैठे हुए ज्ञानानन्द सोचने लगा कि बहुत दिन हुए तत्व ज्ञानी विद्वानों का उपदेश नहीं सुना। संसार के धन्धे तो समाप्त न होंगे, कुछ अपने उद्धार का भी यत्न करना चाहिये। उसने साथियों में अपना प्रस्ताव रक्खा और स्वीकृत हो गया। जहां ज्ञानानन्द जाना चाहता था वह स्थान लगभग ५० मील दूर था। दूसरे दिन सब वहां जा पहुंचे।

ज्ञानानन्द—मित्रगण, देखिये—यह सामने ही घना वन है। यहां स्थान २ पर कैसी सुन्दर प्राकृतिक पुष्प वाटिकाएं लगी हुई हैं। इनमें खिले हुए फलों की सुगन्धि, मन्द और शीतल वायु के साथ मिलकर, मस्तिष्क के सूक्ष्म नाड़ी तन्तुओं को तृप्त करती हुई कैसा विश्राम दे रही है। स्थान २ पर झरनों से गिरता हुआ मधुर शीतल जल, अपनी मधुर ध्वनि से मार्ग से जाते हुए प्यासे यात्रियों को निमन्त्रण दे देकर बुला रहा है। एक ओर मयूर आदि पक्षियों के मनोहर कलरव अपना माधुर्य आस्वादित करने के लिये लालायित कर रहे हैं, और दूसरी ओर हाथियों की चिंघाड़ें तथा सिंहों की गर्जनाएं अपनी भयङ्करता का अभिनय कर हृदयों को कांप उठने के लिये विवश कर रही हैं। इस वन का नाम नैमिष है। आप चारों ओर दृष्टिपात कर देखिये इसमें स्थान २ पर तत्ववेत्ता महर्षियों की कुटियाएं हैं। ये लोग सब ही बड़े सदाचारी, तपस्वी, योगी और भिन्न २ विषयों के महाविद्वान् हैं।

इस वन में, वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि भिन्न २ विषयों के अनेक

विद्यालय हैं। ये सब विद्यालय इन्हीं पूज्य महर्षियों की छत्रच्छाया में चल रहे हैं। इन लोगों को इन विद्यालयों को चलाने के लिये धन सम्बन्धी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। राजा और धनिक लोग स्वयं ही इनके लिये इतना धन दे जाते हैं कि कई बार इन्हें, अधिक हो जाने कारण कितनी ही धन राशियें लौटानी पड़ती हैं। और फिर अनुचित कमाई का धन तो ये कभी ग्रहण करते ही नहीं।

भारतवर्ष के लोग शिक्षा दीक्षा के लिये अपनी सन्तान को ऐसे ही विरक्त महापुरुषों के पवित्र हाथों में सौंपते हैं और ऐसे ही विशुद्ध वायुमण्डल में उनके ब्रह्मचर्यकाल का निवास उचित समझते हैं।

यहां धनिक और निर्धन सब के लिये, भोजन आच्छादन, अध्ययन, रहन सहन आदि का समान ही प्रबन्ध है। यहां के विद्यार्थियों को घूंटी में ही व्यवहार के रूप में साम्यवाद का मनोरञ्जक पाठ पढ़ाया जा रहा है। ये लोग शिक्षण व्यवस्था के लिये अपने पास से व्यय नहीं कर सकते। ऐसी बात नहीं है। इनके पितृवर्ग इनके व्यय से भी कहीं अधिक धन स्वयं ही विद्यालयों के अर्पण कर जाते हैं। परन्तु इन्हें जाति के धन पर शिक्षित करने की भावना इसलिये दी जा रही है, कि ये साम्यवाद के रंग में रंगे जावें और अपने आपको जाति की विभूति समझें।

यह देखिये सामने एक विशाल सभाभूमि है। इसका यह कोमल हरा घास मखमल के भी दांत खट्टे कर रहा है। पूर्णिमा, अमावस, और अष्टमी को प्रति सप्ताह यहां इन लोगों की सभा लगती है। इसमें ऋषियों के प्रवचन तथा विभिन्न विषयों पर विचार होते हैं। इन सब ही विद्यालयों के अध्यापक तथा छात्र इस दिन यहां उपस्थित होते हैं। नगरों के भी बहुत से सज्जन इस दिन यहां इनके विचार सुनने के लिये आजाया करते हैं। आज सभा के अधिवेशन का दिन है। आइये, आज हम भी इस मनोहर दृश्य को देखें और महर्षियों के पवित्र विचारों से अपने आत्मा को तृप्त करें।

देखिये यह सभामण्डल है। सभा के आह्वान के लिये घण्टी बज गई। कुटियाओं तथा विद्यालयों से निकल २ कर वनवासी सभा में पधार रहे हैं बस हम भी आज इस सारे ही कार्यक्रम को देखेंगे। देखिये नगरों के महानुभाव भी पहुँच गए। सब लोग बैठ रहे हैं, आइये हम भी बैठ जावें। सभा के प्रधान मन्त्री महात्मा आत्मबोध जी सभा की कार्यवाही को आरम्भ करने के लिये आरम्भिक भाषण करने लगे हैं।

आत्मबोध—मान्य महर्षिगण! विद्वन्मण्डल! ब्रह्मचारीगण! तथा आगन्तुक महोदयवर्ग! आप सब का प्रेमपूर्व स्वागत करता हुआ मैं श्री प्रधान जी की आज्ञा से आज के कार्यक्रम को आरम्भ करता हूँ। तथा आप सब के परिचय के लिये निवेदन किये देता हूँ कि आज के विचार का विषय है—"जीवात्मा का परिमाण"।

यह मान लिया गया है कि, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण इस सारे ही अध्यात्म जगत् से चैतन्य तत्व आत्मा भिन्न है। अब विचार यह प्रस्तुत है कि वह आत्मा, इस शरीर के किसी एक भाग में रहता है, इस सम्पूर्ण में ही फैला हुआ है, अथवा इसके अन्दर व्यापक होता हुआ बाहर के आकाश में भी विस्तृत होता हुआ व्यापक है।

आज हम सब लोग इस विचार में भाग ले रहे हैं। यह वाद-कथा है। इस कथा में विजय पराजय के विचार को दूर कर किसी पर किसी प्रकार का आक्षेप न करते हुए प्रेमपूर्वक अपने २ विषय को उपस्थित करना चाहिये। सब से पहिले मैं श्री महात्मा विभुबोध जी से प्रेमपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने की कृपा करें।

वि० बो०—उपस्थित भद्र पुरुषो ! क्या आप जानते हैं कि आप कौन हैं ? मैं समझता हूँ कि आप में से कुछ सज्जन यह जानते होंगे। परन्तु बहुत से महानुभाव तो छाती पर हाथ रख कर और अपना नाम लेकर यह उठेंगे कि मैं अमुक हूं। आपको यह समझ रखना चाहिये कि आपने अपने शरीर को हाथ लगाया है और आप शरीर नहीं हैं। यदि आप शरीर होते तो यह कभी न कहा करते कि यह मेरा शरीर है। निश्चय ही आप वह शक्ति हैं कि जो शरीर को मेरा कहा करती है और इसी का नाम चैतन्य शक्ति, आत्मा अथवा जीव है।

आप हाथ उठाते हैं, पैर चलाते हैं, पलक झपकते हैं और शिर हिलाते हैं। यदि आप इन सारे अङ्गों में व्यापक न होते तो क्या इनका सञ्चालन कर सकते? आपने बहुत सी घटनाएं ऐसी सुनी होंगी जो दूर देशों में घटी हैं। और उनके सम्बन्धियों को सैंकड़ों कोसों पर यहां ही बैठे हुए बिना बाहर के साधन के उनका अनुभव हो गया। मैं ऐसी बहुत सी घटनाओं को जानता हू।

किसी का पिता विदेश में संकट में पड़ा है अथवा मृत्यु का ग्रास बन गया है। और पुत्र को यहां बैठे २ ही उसके उस सङ्कट अथवा मृत्यु की चिन्ता सताने लगी है। क्या आप यह मान सकते हैं कि पुत्र का आत्मा यदि इस शरीर तक ही सीमित होता, तो यहां बैठा २ ही वह सैंकड़ों कोस दूर की इस घटना का अनुभव कर लेता? मैं कहूंगा कि कदापि नहीं। क्योंकि पिता की वेदना की झलक पुत्र की आत्मा में पड़ने के लिये कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध चाहिये। उन दोनों के आत्माओं का संसर्ग परस्पर होना चाहिये। और उन दोनों के सम्बन्ध का इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं कि उन्हें शरीर के बाहर आकाश में भी व्यापक माना जावे।

मध्यमबोध—महात्मा जी कण्ट्रोल का समय है। इन छोटी २ आत्माओं को खाने को मिलता नहीं; आपकी इन इतनी बड़ी आत्माओं को कहां से मिलेगा।

वि० बो०—मित्रवर! खाने वाले तो शरीर हैं। और मैं इन्हें व्यापक बतला नहीं रहा। मैं तो उन आत्माओं को व्यापक कह रहा हूं जिनको खाने पीने की कोई आवश्यकता नहीं।

म० बो०—अच्छा सुनिये, आप प्रत्येक शरीर के आत्मा को व्यापक कह रहे हैं न?

वि० बो०—हां अवश्य।

म० बो०—तो कृपया यह बतलाने का कष्ट कीजिये कि यदि प्रत्येक आत्मा व्यापक है, तो जिस प्रकार पिता के आत्मा को पहुंचे आघात की वेदना पुत्र के आत्मा को सुन पड़ी, इस प्रकार व्यापक होने के कारण एक साथ मिले हुए सब आत्माओं की वेदनाओं का अनुभव सब को क्यों नहीं होता।

वि० बो०—जो जिसका निकट सम्बन्धी है अथवा जिसका जिसके साथ अधिक स्नेह है उसकी वेदना का अनुभव उसे होता है दूसरे की वेदना का दूसरे को नहीं।

म० बो०—क्यों? इसके लिये कोई वैज्ञानिक कारण बतलाइये। संसर्ग तो सब का सब कालों में समान है।

और पुत्र आदि की आत्माओं को भी कभी, और किन्हीं ही घटनाओं का अनुभव होता है, सदा सब का क्यों नहीं।

और सुनिये, अपने २ शरीर में सीमित रहने की दशा में तो एक दूसरे की भावनाएं एक दूसरे से छिपी रह सकती हैं, परन्तु व्यापक होने की अवस्था में एक दूसरे के भेद एक दूसरे पर क्यों

नहीं खुले जाते, जब कि सारे ही आत्मा सूक्ष्म हैं, और व्यापक होने के कारण एक दूसरे में ओतप्रोत हैं।

कृपया इस शङ्का का भी समाधान कीजिये कि व्यापक आत्मा का ज्ञान अल्प क्यों? क्योंकि गुणी का गुण भी उसके सारे आधार में व्यापक होने के कारण व्यापक ही होना चाहिये। और यदि हां, तो कहिये परमात्मा और जीवात्मा में अब क्या भेद रहा?

वि० बो०—महात्मन्! संयोग सम्बन्ध की यह शक्ति नहीं कि एक दूसरे के गुणों को एक दूसरे में प्रविष्ट कर सके। देखिये आकाश, वायु, अग्नि आदि का परस्पर संयोग है, परन्तु उनमें से एक दूसरे के गुण किसी दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते।

म० बो०—मान्यवर! देखने में तो इसके विपरीत आता है, देखिये अग्नि की गर्मी से वायु गरम और जल की ठण्डक से ठण्डा हो जाता है।

वि० बो०—महात्मन्, प्रत्यक्ष में ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः अग्नि की गर्मी और जल की ठण्डक वायु में नहीं गई। वायु में थोड़ी मात्रा में जल और अग्नि तत्व भी हैं। परन्तु यहां वायु तत्व की प्रधानता होने से इसके स्पर्श के प्रभाव में उन दोनों के स्पर्श दबे रहते हैं। वायु के साथ अग्नि और जल का संयोग हो जाने से उनके स्पर्श का उत्कृष्ट प्रभाव वायु के स्पर्श को निर्बल कर देता है और वायु के स्पर्श से दबे हुए उनके स्पर्श वायु में से ही प्रकट हो जाते हैं। अग्नि अथवा जल तत्व का संयोग हट जाने पर वे फिर उसी प्रकार वायु के स्पर्श से दबा दिये जाते हैं।

म० बो०—मान्यवर! वायु के स्पर्श पर अग्नि और जल के स्पर्श का प्रभाव भी तो उन दोनों के अधिक निकट होने पर ही पड़ेगा। और इसे ही एक दूसरे के अन्दर एक दूसरे के गुण का प्रवेश कहते हैं। यह दूसरी बात है कि वायु अग्नि आदि सावयव पदार्थों के अवयव एक दूसरे में प्रविष्ट होकर उनके गुणों को अपने गुणों से प्रभावित कर देते हैं और सूक्ष्म पदार्थों में अवयव न होने से उनका प्रवेश इस प्रकार का न होगा जैसा कि इनका। निरवयव पदार्थों के लिये तो हमें यही नियम मानना पड़ेगा कि सूक्ष्म वस्तुएं भी एक दूसरे में इसलिये प्रविष्ट होजाती हैं कि वे स्थान नहीं घेरती। अन्यथा सर्वसम्मत ईश्वर का जीव में प्रवेश असम्भव हो जावेगा।

वि० बो०—महात्मन्, ईश्वर जीव से भी सूक्ष्म है, और सूक्ष्म का प्रवेश स्थूल में हो जाया करता है, अतः ईश्वर का प्रवेश जीव में सम्भव है।

म० बो०—कैसे भगवन्! कोई युक्ति बतलाइये। मैं फिर कहता हूं कि इस व्यवस्था के लिये आप को यह मानना पड़ेगा कि सूक्ष्म वस्तुएं स्थान नहीं घेरती। और यह मान लेने पर अब ईश्वर का जीव में और प्रलय में जीव का ईश्वर में प्रवेश सम्भव हो सकेगा। और यदि बातऐसी हैं तो सूक्ष्म होने और स्थान न घेरने के कारण व्यापक आत्मा भी एक दूसरे में प्रविष्ट हुए २ ही व्यापक कहे जासकेंगे। और यदि यह ठीक है तो "सब आत्माओं पर सब आत्माओं के भेद प्रकट हो जाने चाहियें" यह हमारी शङ्का अब भी आप से उत्तर मांगने के लिये खड़ी है।

वि० बो०—महात्मन्। शरीर से बाहर आकाश मण्डल में फैले हुए आत्मा एक दूसरे के गुणों का अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि वहां साधन नहीं हैं। आत्मा के गुणों का अनुभव करने के लिये आत्मा के साधन अन्तःकरण का होना आवश्यक है, और वह शरीर से बाहर काम नहीं

कर सकता, अतः बाहर के आकाश में फैले हुए भी आत्मा एक दूसरे का भेद नहीं जान सकते।

म० बो०—और पुत्र की आत्मा ने सैकड़ों कोसों पर बैठे हुए पिता के संकट का अनुभव कैसे कर लिया ? वहां भी तो अनुभव करने वाली आत्मा और है और संकट में पड़ी हुई आत्मा और।

वि० बो०—पुत्र को पिता सङ्कट का अनुभव बाहर के आकाश में नहीं हुआ। उसके अपने शरीर में भी तो पिता का आत्मा व्यापक होने से वर्तमान ही है और यहां अन्तःकरण है, ही अतः अनुभव होजाता है।

म० बो०—अपने ठीक कहा। बस इसी प्रकार भी अन्य आत्माओं को अपने शरीर के अन्दर के आकाश में ही होजाना चाहिये, क्योंकि वहां भी वे आत्मा व्यापक ही हैं, और अन्तःकरण भी वहां है ही। और जब अनुभव की सब सामग्री विद्यमान हैं तो एक दूसरे के भेद एक दूसरे पर प्रकट होजाने चाहियें।

आत्मबोध—महात्मन् ! प्रधान जी की घण्टी बजगई। महात्मा विभुबोध जी के साथ वार्तालाप का समय समाप्त हो गया। अब महात्मा मध्यमबोध जी के साथ महात्मा अणुबोध जी का विचार विनिमय होगा। मैं महात्मा अणुबोध जी से प्रार्थना करता हूं कि वे अपने विचार प्रस्तुत करें।

अ० बो०—(मन में) आश्चर्य की बात है कुछ समझ में नहीं आता; वेदों में कहीं भी जीव के विभुपरिमाण का नाम तक नहीं मिलता, और इसके विपरीत इस के अणु परिमाण वर्णन करने वाले अनेक मन्त्र मिलते हैं। वेद ही भारतीय धर्मशास्त्र, ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा दर्शनों के प्राण हैं। और सब के परतःप्रमाण होते हुए वेद ही स्वतःप्रमाण सब शास्त्रों में माने गये हैं, फिर भी न जाने जीव का विभुवाद किस समय किस प्रकार चल पड़ा। इस के सिवाय समझ में कुछ नहीं आता कि वेद भूल जाने का यह परिणाम हो। उपनिषदों में भी जीव के परिमाण को अनेकों स्थलों पर अणु ही कहा गया है। जो लोग उपनिषदों से विभुवाद को सिद्ध करते हैं, वे भी केवल प्रतीयमान अभेदवाद की झलक से ऐसा करने लगे प्रतीत होते हैं। अन्यथा जीव के साक्षात् विभु परिमाण को इस प्रकार प्रकार प्रकट करने वाला उपनिषदों में भी कोई वाक्य नहीं, जिस प्रकार कि अणु परिमाण को प्रकट करने वाले अनेकों वाक्य हैं।

सूत्रकार ऋषियों के सूत्रों में भी जब उन्हें गम्भीर दृष्टि से विचारा जाता है तो जीव के विभु परिमाण की सिद्धि होती दिखाई नहीं देती। हाँ इसमें कोई संदेह नहीं कि भाष्यकारों ने बहुधा जीव के विभु परिमाण को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि बीच में ऐसा कोई युग आया होगा, जब कि भाष्यकारों ने किसी विशेष परिस्थिति के वश इस परिमाण का प्रदर्शन करना आरम्भ किया होगा। एक सांख्य दर्शन को ही जब देखता हूँ तो इसी में इस परिमाण के विषय में कालभेद से दो प्रकार की व्यवस्थाएँ पाता हूँ। महर्षि पञ्चशिखाचार्य के समय में सांख्यशास्त्र में जीव के अणु परिमाण का ही वर्णन मिलता है, उनके लिखे हुए इक्कीस सूत्रों में से चौदहवाँ सूत्र "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते" (उस अणु परिमाण वाले अपने आप को जानकर मैं हूं ऐसा बोध करता है) जीव के अणु परिमाण का ही बोधक हैं। परन्तु वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु आदि टीकाकारों के समय में उसी सांख्य शास्त्र में जीव के विभु परिमाण का उल्लेख किया गया दृष्टिगोचर होता है। और पञ्चशिखाचार्य के इस सूत्र में आए हुए अणु शब्द को भी(जो कि मात्रा शब्द के सहयोग

के कारण परिमाण के अतिरिक्त और किसी अर्थ का प्रतिपादक हो ही नहीं सकता) खींच तान कर, और मात्रा शब्द की महत्ता को सर्वथा भुला कर, सूक्ष्म अर्थ में लेते हुए विभु परिमाण की ही पुष्टि का यत्न दृष्टिगोचर होता है।

भगवान् बुद्ध के काल में भी सांख्यशास्त्र में जीव का अणु परिमाण ही माना जाता रहा है ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि अश्वघोष ने अपने लिखे हुए बुद्ध चरित के बारहवें सर्ग में लिखा है कि, अराड कलाम ने भगवान् बुद्ध को सांख्य मत का उपदेश देते हुए कहा—

क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः" १२ । २०

ततो मुञ्जादिषीकेव शकुनिः पञ्जरादिव । क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते"१२।६४

(आत्मचिंतक लोग आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जिस प्रकार मुञ्ज से सींक और पिंजरे से पक्षी निकलने पर मुक्त कहलाता है, इसी प्रकार शरीर से निकला हुआ "क्षेत्रज्ञ" अर्थात् आत्मा मुक्त कहलाता है) *। इन श्लोकों के दृष्टान्तों के अनुसार जीव का देह से निकल अलग हो जाना, जीव के अणु परिमाण को स्पष्ट सिद्ध कर रहा है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के समय में भी सांख्यमत में जीव के अणु परिमाण का ही उल्लेख पाते हैं।

इस प्रकार इस सारी ऐतिहासिक दृष्टि को भी हम अपने उस विचार को पुष्ट करने का साधन देख रहे हैं कि भाष्यकारों के काल में जीव के परिमाण को किसी कारण से विभु मानने की कुछ प्रथा सी चल गई होगी। जिससे कि उन्होंने सूत्रों के भावों को उसी ओर ले जाने की चेष्टा की होगी। इसमें कारण वेदों का अज्ञान और उपनिषदों का अन्यथाज्ञान हो या कोई और, यह भगवान् जानें। अस्तु जो कुछ भी हो, आज के विचार विनिमय में हमारे लिये केवल अपने कथन को युक्तिवाद तक ही सीमित रखने का आदेश दिया गया है। अन्यथा परिमाणवाद का आश्रय ले हम इस विषय का भली भांति स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

(प्रकट) भगवन्! मध्यम बोध महोदय! मैं अपने किसी कथन से पहले आपके विचारों से भली-भांति परिचित हो जाना चाहता हूँ। आप जीवात्मा का परिमाण अणु अथवा विभु न मानकर मध्यम मानते हैं। क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि आपके इस मध्यम शब्द का क्या तात्पर्य है? क्योंकि अणु और विभु के बीच के सब परिमाणों को मध्यम कहते हैं। अतः मध्यम का अर्थ सहस्रों कोस लम्बा चौड़ा भी किया जा सकता है और एक द्व्यणुक जितना छोटा सा भी।

म० बो०—शरीर जितना बड़ा।

अ० बो०—कौन से शरीर जितना? मनुष्य के शरीर जितना!

म० बो०—जी हां।

अ० बो०—ठीक है। परन्तु आप पुनर्जन्म के मानने वाले हैं। अतः कृपया यह भी बतलाइये कि जब यह चींटी के शरीर में जावेगा, तब इसका परिमाण कितना होगा?

म० बो०—चींटी के शरीर जितना।

---

* अश्वघोष के इस वचन की सूचन 'विरजानन्द वैदिकसंस्थान' लाहौर के विद्वान् पं०

अ० बो०—और जब हाथी के शरीर में जावेगा तब ?

म० बो०—तब हाथी के शरीर जितना होगा।

अ० बो०—महात्मन् ! आप के इन उत्तरों से तो यह सिद्ध होता है कि आत्मा सिकुड़ने और फैलने वाला है।

म० बो०—जी हां, शरीर के प्रतिबन्ध के कारण ऐसा हुआ करता है। जैसे कि छोटी कोठड़ी के अन्दर जलते हुए दीपक का प्रकाश उस कोठड़ी तक ही सीमित होता है और बड़े कमरे में रख देने पर उसी दीपक का प्रकाश सारे कमरे में फैल जाता है।

अणु बो०—महात्मन् ! मैंने आप का सिद्धान्त समझ लिया। अब मैं विनम्र निवेदन करता हूँ कि मैं आप के इस विचार से सहमत नहीं हो सका। क्योंकि जिस प्रकार दीपक के भौतिक प्रकाश को मकान की भौतिक दीवारें रोक कर संकुचित कर देती है, उसी प्रकार शरीर रूपी मकान की दीवारें आत्मा के स्वरूप को रोक कर संकुचित नहीं कर सकती। भेद यह ही है कि वहां दीपक का प्रकाश भी भौतिक था और दीवारें भी। भौतिक से भौतिक का प्रतिबन्ध सम्भव था। परन्तु यहां दार्ष्टान्त में तो शरीर भौतिक है और और आत्मा अभौतिक। अतः अभौतिक सूक्ष्म आत्मा शरीर की दीवार को पार कर बाहर निकल जावेगा उससे रोका नहीं जा सकता। दृष्टान्त की दूसरी विषमता यह है कि यहां आप दीपक के प्रकाश का विस्तार मकान में मानते हैं दीपक का नहीं और वहां आत्मा के प्रकाश को नहीं आत्मा को ही शरीर में व्यापक मानते हैं। वहां प्रकाश के सिकुड़ने से प्रकाश सिकुड़ता है दीपक नहीं और यहां आत्मा के स्वयं ही शरीर में व्यापक होने से आत्मा को ही शरीर में फैलने और सिकुड़ने वाला मानना पड़ेगा।

अस्तु अब हम आप के इस सिकुड़ने और फैलने को भी विस्तार से समझना चाहते हैं। सिकुड़ने तथा फैलने वाली रबड़ आदि वस्तुओं में ऐसा देखा गया है कि उनके अवयव सिकुड़ने के समय आपस में सट जाते हैं और फैलने के समय अपने बीच में कुछ अवकाश देकर खुल जाते हैं। जीव को भी यदि सावयव पदार्थ मान लें तो उसमें भी इसी प्रकार सिकुड़ने और फैलने की व्यवस्था मानी जा सकती है। परन्तु आपत्ति यह होगी कि सावयव मानने पर उसे विनाशी मानना पड़ जावेगा। परन्तु मानते आप भी उसे नित्य ही हैं। अतः यह सङ्गति यहां बैठती नहीं।

इसी सम्बन्ध में मैं आप से यह भी जानता जाहता हूँ कि आप के मत में आत्मा का स्वाभाविक परिमाण क्या है ? क्योंकि इन शरीरों में तो वह निमित्त से सिकुड़ता तथा फैलता रहता अतः ये सब परिमाण तो नैमित्तिक हैं, स्वाभाविक नहीं।

म० बो०—जो परिमाण इसका अन्तिम शरीर में मुक्ति के समय होगा वही इसका स्वाभाविक परिमाण है।

अ० बो०—वह परिमाण इसमें आज तक कभी रहा है या नहीं।

म० बो०—नहीं।

अ० बो०—महात्मन् ! तब तो इसके उस अन्तिम परिणाम को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

म० बो०—क्यों ?

अ० बो०—इस लिये कि जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है वह पहिले और पीछे सदा उसके साथ होता है। बीच में किसी निमित्त के आ जाने से वह छिप जाया करता है और उस निमित्त हट जाने पर फिर उसी प्रकार प्रकाश में आ जाया करता है। जैसे कि जल का स्वभाव शीतल है। कभी उसके साथ अग्नि का संयोग हो जाने पर अग्नि की गर्मी से शीतलता छिप जाया करती है, परन्तु उसके दूर होते ही फिर जल अपने शीतल स्वभाव में ही आ जाया करता है। अत: किसी वस्तु के स्वभाव को उसके साथ निमित्त का सम्बन्ध होने से पहिले और पीछे उस वस्तु में होना चाहिये। परन्तु जीव में आप ऐसा मानते नहीं। अत: परिमाण की दृष्टि से उनका कोई भी स्वभाव निश्चित नहीं किया जा सकता।

म० बो०—अच्छा महात्मन्! थोड़ी देर के लिये इस विषय को यहां ही छोड़ कर मैं आप से पूछता हूँ कि आत्मा का परिमाण अणु मानते हुए आप मेरी इन शङ्काओं का क्या समाधान करेंगे।

१—आत्मा अणु होने के कारण शरीर के किसी एक ही भाग में रह सकेगा, तब तो उसे उसी भाग की घटनाओं का अनुभव होना चाहिये। गंगा में गोता लगाने पर सारे शरीर में पहुँची हुई शीतलता का उसे एक साथ ही अनुभव उसे कैसे हुआ?

२—योग समाधि से आत्मा का ज्ञान बढ़ जाता है और उस अवस्था में यह शरीर के सारे नाड़ी तन्तु जाल का हर समय प्रत्यक्ष करता है। एक भाग में होने से उसी भाग की नाड़ियों का प्रत्यक्ष होना चाहिए सब का कैसे हुआ।

अ० बो०—भगवन्! आपके प्रश्नों का एक ही उत्तर और वह यह कि आत्मा यद्यपि अणु है और शरीर के एक भाग हृदय में रहता है परन्तु उसका ज्ञान रूपी प्रकाश दूर तक फैला रहता है और उस प्रकाश के ही द्वारा इसे वे प्रत्यक्ष हुआ करते हैं जिनके विषय में आप ने शङ्काएँ की हैं।

म० बो०—आप आत्मा का परिमाण अणु मानते हैं। और आत्मा तथा उसके परिमाण को भी नित्य मानते हैं। आत्मा का एक गुण आप ज्ञान भी मानते हैं, जब कि आत्मा नित्य है तो उसके परिमाण की तरह उसका यह गुण ज्ञान भी नित्य ही होना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत योग-समाधि, तथा ईश्वरप्रणिधान से उसके उस ज्ञान में आप वृद्धि भी मानते हैं। यदि आत्मा का गुण ज्ञान बढ़ता घटता है तो उसके गुणी आत्मा में भी परिवर्तन मानना आवश्यक हो जावेगा। क्योंकि उसका ज्ञान ही तो उसका स्वभाव है, और स्वभाव में परिवर्तन आने से उस स्वभाव वाली वस्तु में परिवर्तन का आना आवश्यक ठहरा। और यदि ऐसा मानना पड़ गया तो आत्मा विकारवान् सिद्ध हो जावेगा नित्य नहीं। कहिये इसका क्या समाधान है।

अ० बो०—आप की इस शङ्का का समाधान भी हमारे पहिले उत्तर से ही हो गया। हम पहिले कह आये हैं कि आत्मा यद्यपि अणु है, परन्तु उसके ज्ञान का प्रकाश दूर तक फैला हुआ है, आत्मा के ज्ञान में कमी ज्ञान में कई प्रकार के दोषों के आ जाने से होती है। और उन दोषों का दूर किया जाना ही ज्ञान की वृद्धि कहलाता है। परन्तु इन दोनों के आने और जाने का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं है। जैसे कि घरों में आते हुए सूर्य के प्रकाश में, रोशन दानों में लगे हुए भिन्न प्रकार के सीसों के सहयोग से, कहीं नीलापन, कहीं पीलापन और कहीं धुँधलापन कई प्रकार के दोष आ जाते हैं। और उन सीसों के हटा देने पर दोष दूर होते जाने पर वह प्रकाश फिर वैसा ही निर्मल चमकने

लगता है। परन्तु प्रकाश में इन दोषों के आने और हट जाने का सूर्य के बिम्ब पर कोई प्रभाव नहीं। ठीक इसी प्रकार ज्ञान के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं।

आ० बो०—माननीय महात्माओ! आप के विचार विनिमय के लिये नियत किया हुआ समय समाप्त हो गया। आप तीनों महानुभावों ने अपने इस हेतुवाद को जिस उत्तमता और प्रेम के साथ निभाया है इसके लिये हम लोग कृतज्ञ हैं और आप सब का धन्यवाद करते हैं। अब वेदों के प्रकाण्ड पण्डित और उपनिषदों के तत्ववेत्ता, पूज्यपाद महर्षि व्यासदेव जी का इसी विषय पर प्रवचन होगा। आप सब उनके गम्भीर भाषण को ध्यान से सुनियेगा। मैं पूज्यपाद महर्षि जी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने प्रवचन को आरम्भ कर हमें अनुगृहीत करें।

म० व्या०—सभ्य समुदाय! मन्त्री महोदय ने "जीवात्मा के परिमाण" विषय पर कुछ कहने की प्रेरणा की है। जीव के परिमाण का निर्धारण हमने वेदान्त सूत्रों में भली भांति कर दिया है। अतः इस सम्बन्ध में कोई नया भाषण देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु आप सब कुछ सुनना चाहते हैं, अतः हम वेदान्त का वह ही प्रसंग आप के परिचय के लिये आपके सामने उपस्थित किये देते हैं। इस प्रसङ्ग में आपको जहां २ शङ्काएं हों निःशङ्क पूछते चलें बिना सङ्कोच उत्तर दिया जावेगा। वेदान्त दर्शन में एक स्वतन्त्र अधिकरण ही हमने इस विषय के अर्पण किया है। उसी अधिकरण का व्याख्यान आज हम इस सभा में करेंगे। विषय गम्भीर है अतः ध्यान से सुनियेगा।

संसार में तीन प्रकार के परिमाण ही व्यवहार में आते हैं, अणु, मध्यम और विभु। इनमें से जीव का परिमाण यदि मध्यम माना जावे तो मध्यम परिमाण वाली कोई भी वस्तु नित्य नहीं होती, अतः जीवात्मा के भी उत्पत्ति और विनाश मानने पड़ जावेंगे। अब शेष रह जाते हैं अणु और विभु दो परिमाण। जीव के परिमाण के सम्बन्ध में विवेचन करने से पहिले उपनिषदों के वाक्यों में कहीं २ विभु परिमाण की भी झलक प्रतीत हुआ करती है। और अणु परिमाण का भी बहुत से स्थलों में स्पष्ट आभास मिलता है। अतः इन दोनों परिस्थितियों को देखकर यह संशय होने लगता है कि—

"जीवात्मा का परिमाण अणु है या विभु" इस संशय के प्रकाश में आने पर हम पूर्व पक्षी की ओर से यह कहना चाहते हैं कि आत्मा का परिमाण विभु है। और इस पक्ष की पुष्टि में उपनिषद् के कुछ वचन उपस्थित करते हैं।

सवा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४–४–४२)

(जीवात्मा महान्—अर्थात् विभु और अजन्मा है। वह ही आत्मा जो कि प्राणों के बीच में विज्ञानमय है।)

इस वचन में स्पष्ट ही आत्मा को विज्ञानमय और महान् कहा गया है। विज्ञानमय ब्रह्म ही हो सकता है और कोई नहीं। और महान् शब्द भी व्यापक ब्रह्म के लिये ही आया है। प्राणों के मध्य में कहा जाने से यह जीव है। और जीव और ईश्वर का अभेद है अतः उसे विज्ञानमय शब्द से कहा गया है। और इसी हेतु से उसके परिमाण को भी विभु कहा गया है। इसी प्रकार—

आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म, (तै० २–१–१)

(आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापक और नित्य है, वह सत्य स्वरूप, विज्ञान स्वरूप और अनन्त—अर्थात् व्यापक है।)

इन वाक्यों में तो स्पष्ट ही आत्मा को आकाश की तरह व्यापक और अनन्त—अर्थात् अपार कहते हुए विभु माना गया है। तथा—

स चानन्त्याय कल्पते (श्वे० ५–६)

(वह आत्मा अनन्त-रूपता को प्राप्त है अर्थात् विभु ।)

इस श्वेताश्वतर के वचन से भी आत्मा का परिमाण विभु सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियों से आत्मा का प्रमाण विभु ही सिद्ध होता है। अतः आत्मा विभु इस पूर्व पक्ष के उत्तर अब सुनिये—

उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम् (ब्र० सू० २–३–१६)

जीव अणु है, क्योंकि उसकी उत्क्रान्ति (शरीर से बाहर निकलना) गति (अन्य योनियों के लिये जाना) और आगति (अन्य शरीर में प्रवेश होना) ये तीन क्रियाएं सुनी जाती हैं। जैसे कि—

तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति, चक्षुषो वा, मूर्ध्नो वा, अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः (बृ० ४–४–२)

(उस आत्मा के हृदय का अग्र भाग उसके प्रकाश से चमकता है। उस प्रकाश के साथ ही यह आत्मा, आंखों से, मूर्द्धा से अथवा शरीर के किसी और भाग से निकल जाता है।)

इस प्रकार जीव के इस शरीर से निकल जाने का इस वाक्य में वर्णन है। शरीर से निकलना व्यापक आत्मा का हो नहीं सकता, अतः इस उत्क्रान्ति का श्रवण आत्मा के अणु परिमाण को सिद्ध कर रहा है।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य (बृ० ४–४–६)

(जिस फल में आसक्त होकर इस आत्मा ने कर्म किया है, और इसीलिये जहां जाने के लिये इसका साधनरूप उत्सुक है, अपने उस कर्म के साथ; व्यवस्थानुसार उसे भोगने के लिये, यथोचित भोग योनि में चला जाता है) इस वाक्य में आत्मा के कर्म भोग के लिये कहीं अन्यत्र चले जाने का वर्णन है। यह ही गति का श्रवण है। व्यापक आत्मा में गति हो नहीं सकती, अतः इस गति के श्रवण के अनुसार भी आत्मा का परिमाण अणु ही मानना पड़ेगा।

तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे (बृ० ४।४।६)

उस भोग योनि से अथवा उभययोनि से फिर इस उभययोनि (जहां कर्म और भोग दोनों कर सकता है) मनुष्य योनि में कर्म करने के लिये आता है।

इस वाक्य में जीव के फिर मनुष्य योनि में आने का वर्णन किया गया है। यह आगति का श्रवण है। और आगति अर्थात् आगमन व्यापक का सम्भव नहीं अतः आगति के श्रवण से भी आत्मा का परिमाण अणु ही मानना पड़ेगा।

आत्मा में विभु परिमाण का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों के वचन दो प्रकार के हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो ईश्वर के प्रकरण में आये हैं। ईश्वर का व्याख्यान करने वाले वाक्य तो उसके परिमाण को विभु कहेंगे ही, इसमें कोई क्षति नहीं।

जैसे कि—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (ब्रह्म सत्य विज्ञान और अनन्त अर्थात् व्यापक है) "आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः" (वह आकाश की तरह सर्वव्यापक और नित्य है)

ये दोनों वचन ब्रह्म-निरूपण के प्रकरण में आये हैं, और उसी के परिमाण को विभु कह रहे हैं, ब्रह्म विभु है ही अतः उसके परिमाण को विभु कहने में कोई आपत्ति नहीं।

इनके अतिरिक्त कुछ वचन ऐसे हैं जो आये तो जीव के ही प्रकरण में हैं, परन्तु भलीभांति विचारे बिना और उनका भाव समझे बिना विभु प्रमाण के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं।

स वा एष महान आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४।४।२२)

(यह आत्मा महत्त्व सम्पन्न अजन्मा और विज्ञानमय है जोकि प्राणों के मध्य में रहता है) अजन्मा तो जीव और ईश्वर दोनों ही हैं, परन्तु महान् शब्द का अर्थ व्यापक अर्थ करलें तो क्योंकि यह प्रकरण जीव का है अतः जीव विभु सिद्ध हो जाता है। क्योंकि प्राणेषु अर्थात् प्राणों के बीच में रहने वाला जीव ही हो सकता है, परन्तु यहां विभु अर्थ किया नहीं जा सकता, यहां तो उसे अपने प्राण समाज इन्द्रियों तथा मुख्य प्राणों की अपेक्षा चेतन और शक्तिशाली होने के कारण महत्व देते हुए महान् कहा गया है। सांसारिक राजा को भी तो लोग ईश्वर कहते ही हैं। अतः इस मन्त्र से आत्मा का परिमाण विभु सिद्ध नहीं होता।

वि० बो०—भगवन् ! इस वचन में विज्ञानमय शब्द भी आया है और यह शब्द आनन्दमय शब्द के साथ ब्रह्म के अर्थों में आता है, अतः यह प्रकरण तो ब्रह्म का होना चाहिए जीव का नहीं।

म० व्या०—इस प्रकरण में विज्ञानमय को प्राणों के मध्य में रहने वाला कहा गया है। और प्राणों के मध्य में कार्य करता है जीव, अतः यहां का विज्ञानमय शब्द जीव के लिए ही आया है। और क्योंकि विज्ञान अर्थात् चैतन्य गुण जीव का भी है अतः उसे भी विज्ञानमय कहा जा सकता है। जहां यह शब्द आनन्दमय के साथ आया है वह प्रकरण पंच कोशों का है और विज्ञानमय कोश ब्रह्म नहीं प्रत्युत बुद्धि है। कोशों में से आनन्दमय कोश ही ब्रह्म के स्थानापन्न वर्णन किया गया है क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् में भार्गवी वारुणी विद्या के प्रकरण में वरुण से ब्रह्मोपासना की इच्छा करने पर भृगु को उन्होंने क्रम से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों का, तप करते हुए बोध कर लेने के बाद भी उसे फिर तप तपने के लिए ही कहा, और फिर इस तप के बाद जब उसे आनन्दमय का ज्ञान हो गया तो इस विद्या को समाप्त कर दिया गया। ब्रह्मप्राप्ति की जिज्ञासा से आये हुए शिष्य को ब्रह्म का बोध कराये बिना विद्या को समाप्त नहीं किया जा सकता था, इससे सिद्ध है कि आनन्दमय का ज्ञान ब्रह्म का ज्ञान ही है। और फलतः आनन्दमय शब्द ब्रह्म के अर्थों में ही आया है, इससे पहिला विज्ञानमय शब्द भी यदि ब्रह्म का ही वाचक होता तो महर्षि इस विद्या को वहां ही समाप्त कर देते परन्तु उन्होंने ऐसा न कर तप करते हुए इस से आगे और कुछ जानने की प्रेरणा की। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विज्ञानमय शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं बुद्धि का वाचक है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते (श्वे० ५।९)

(बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जावें और फिर प्रत्येक के भी सौ सौ भाग किये जाएँ, तो इनका एक भाग अर्थात् बाल की नोक का दस सहस्रवां भाग जीव का परिमाण समझो और वह जीव अनन्त अर्थात् अविनाशी है। इस प्रकार श्वेताश्वतर के इस वाक्य से भी जीव का परिमाण अणु ही सिद्ध होता है)

वि० बो०—भगवन् ! आपने आनन्त्य शब्द का अर्थ अविनाशी किया है इसका अर्थ तो अपार अर्थात् जिसका पार न पाया जा सके किया जाता है।

म० व्या०—अपार अर्थ करने पर इस का अर्थ विभु होगा, और ऐसी दशा में बाल के हज़ारवें भाग के समान परिमाण के साथ इसका अन्वय बोध कैसे हो सकेगा।

वि० बो०—भगवन् ! यहां पर विभु अर्थ होने पर भी संगति इस प्रकार लग जावेगी, जीव यद्यपि व्यापक ही है और उसका परिणाम विभु ही है, परन्तु बुद्धि उपाधि की महिमा से गौण रूप से उसे अणु कह दिया गया है क्योंकि बुद्धि का परिमाण अणु है। उपाधि के दूर कर देने पर जीव और ब्रह्म का अभेद हो जाने पर जीव का वास्तविक परिमाण विभु ही होगा, और उसका अनन्त शब्द के साथ सुगमता से अभेद सम्बन्ध से अन्वय हो सकेगा।

म० व्या०—महात्मन् ! कि किसी भी प्रकरण में किसी शब्द का गौण अर्थ तभी लिया जाता है जब कि मुख्य अर्थ लेने से उसकी संगति ठीक न बैठती हो। इस प्रकरण में आये हुए अनन्त शब्द की मुख्य अर्थ में ही अणु शब्द के साथ संगति ठीक लग जाती है। कारण है कि अन्त शब्द के मुख्य अर्थ दो हैं एक पार और दूसरा विनाश। इन दोनों ही अर्थों में इस शब्द का प्रयोग स्मृतियों में मिलता है जैसे कि—**"उभयोरपि दृष्टान्तः"** (गीता २।१६)

('दोनों ही का पार पाया गया है' यहां अन्त शब्द पार अर्थ में आया है) और **"अन्तवन्त इमे देहाः"** (गीता २।१८) ('ये शरीर नाश वाले हैं' यहां विनाश अर्थ में आया है) ये दोनों ही ही इस शब्द के मुख्य अर्थ हैं। यहां अनन्त शब्द का गीता के श्लोक-पादों के अनुसार अपार अर्थ भी हो सकता है और अविनाशी भी। इन दोनों ही मुख्य अर्थों में से अपार अर्थ लेने पर जीव का परिमाण विभु मानना पड़ जाता है, और फिर इसी वाक्य में आये हुए अणु परिमाण के साथ उसका अन्वय ठीक न बैठने पर बुद्धि उपाधि की कल्पना कर गौण अर्थ की शरण लेनी पड़ती है। परन्तु दूसरे मुख्य अर्थ विनाश को स्वीकार कर लेने पर अनन्त शब्द का अर्थ अविनाशी हो जाता है और अब अणु शब्द के साथ उसका कोई विरोध न होने के कारण अन्वय होकर वाक्यार्थ ठीक बैठ जाता है। क्योंकि जीवात्मा अणु भी है और अविनाशी भी अतः यहां इस शब्द का अर्थ अपार नहीं किया जा सकता। **"स्वात्मना चोत्तरयोः"** ब्र० सू० २।३।२०

उत्क्रान्ति के लिये कदाचित् यह भी कहा जा सके कि, जैसे ग्राम का स्वामी अधिकार से च्युत होने पर ग्राम में रहता हुआ भी बहिष्कृत समझा जाता है, इसी प्रकार शरीर में रहता हुआ भी आत्मा शरीर से पृथक् कहा जा सकता है। परन्तु आगे आये हुए गमन और आगमन दोनों ही आत्मा के बाहर गये और आये बिना नहीं बन सकते, और गमन और आगमन के मान लेने पर उत्क्रान्ति शब्द का अर्थ विवश शरीर से निकलना ही किया जा सकेगा क्योंकि एक स्थान से निकले बिना जाना और आना असम्भव हो जावेंगे। निकलना, जाना और आना यह तीनों क्रियाएँ व्यापक की हो नहीं सकतीं, अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

आत्मा को अणु नहीं कह सकते क्योंकि इसके विपरीत इसका विभु परिमाण प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे कि—

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" बृ० ४।४।१२

(वह आकाश की तरह व्यापक और नित्य है) तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (वह ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप है) इस प्रश्न का उत्तर सूत्र के उत्तरार्ध में देते हैं कि ये श्रुतिएँ इतर अर्थात् दूसरे आत्मा ब्रह्म के अधिकार की हैं अतः इनसे ब्रह्म का ही परिमाण विभु सिद्ध होता है जीव का नहीं।

"स्वशब्दोन्मानाभ्यां च" २२

इसलिये भी आत्मा का परिमाण अणु है कि उसके इस परिमाण को उन्मान वाक्यों में तथा साक्षात् अणु शब्द से ही कहा है जैसे कि—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः, यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश" मुं० ३।१।६

(इस अणु आत्मा का ज्ञान चित्त से होता है जिसके संसर्ग में पाँच प्राणों का सन्निवेश है)।

वि० बो०—भगवन् ! इस श्रुति में जो ज्ञातव्य आत्मा है वह ब्रह्म प्रतीत होता है जीव नहीं क्योंकि इसी प्रकरण में आगे चल कर इसे इन्द्रियों से गृहीत न होने वाला और ज्ञान के निर्मल हो जाने पर प्राप्त होने वाला तथा चित्त से जानने योग्य कहा है, और ऐसा आत्मा ब्रह्म ही हो सकता है, इसलिए यहां अणु शब्द का अर्थ अणु परिमाण न करते हुए सूक्ष्म अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि ब्रह्म अणु नहीं सूक्ष्म है।

म० व्या०—महात्मन् ! ऐसी बात नहीं, यदि यह प्रकरण ब्रह्म के प्रत्यक्ष का निषेध करने के लिए लिखा गया होता तो उसे चित्त से जानने योग्य न कहा जाता, क्योंकि ब्रह्म का प्रत्यक्ष तो चित्त के व्यापार के भी शान्त हो जाने पर साक्षात् आत्मा को ही होता है इस विषय के लिए ऋषियों की सम्मति भी स्पष्ट है जैसे कि—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनः" (केन प्रथम खं० मं० ३)

(उस ब्रह्म की प्राप्ति न चक्षु से, न वाणी से और न मन से हो सकती है) अतः यहाँ आत्मा के ही प्रत्यक्ष का प्रकरण है। दूसरी दो अवस्थाओं का भी यहाँ कोई विरोध नहीं, क्योंकि इन्द्रियों से इसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता, तथा इसका प्रत्यक्ष भी ज्ञान के निर्मल हो जाने पर ही होता है। यह प्रसङ्ग जीवात्मा के प्रत्यक्ष का मान लेने पर इसके संसर्ग में आये हुए प्राणों के सन्निवेश की भी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है, और अणु शब्द का भी 'जोकि परिमाण अर्थ में ही प्रसिद्ध है' सूक्ष्म अर्थ नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार—

"बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वे० ५।८)

(बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से आर के अग्र भाग के समान एक और भी देखा गया है) इत्यादि आर के अग्र भाग आदि की उपमा देने वाले उन्मानों से भी आत्मा का परिमाण अणु सिद्ध है।

वि० बो०—भगवन् ! लोग ऐसा समझते हैं कि इस श्रुति में बुद्धि के गुण से ही आत्मा को आराग्रमात्र कहा गया है वस्तुतः आत्मा का परिमाण तो विभु ही है। बुद्धि का परिमाण आराग्र के

समान है और बुद्धि है आत्मा की उपाधि, अतः बुद्धि के परिमाण से ही यहाँ जीव को अणु कह दिया गया है, जैसे कि शरीर उपाधि से आत्मा अपने आपको स्थूल तथा कृश कहा करता है।

म० व्या०—महात्मन्! ऐसी बात नहीं, आप यदि सारी श्रुति का अर्थ करेंगे तो स्वयं निश्चय कर सकेंगे कि यहाँ बुद्धि के ही गुण का नहीं, आत्मा के भी गुण का उल्लेख है। इस श्रुति का अर्थ हम बता चुके हैं। यहाँ महर्षि श्वेताश्वतर ने बुद्धि के और आत्मा के दोनों के परिमाणों को मिला कर लिखा है। आप तो कहते हैं कि अकेले आत्मा का परिमाण विभु है, परन्तु यदि बुद्धि के परिमाण को साथ न मिलाते अकेले आत्मा के ही परिमाण का उल्लेख करते और लेखक होते महर्षि श्वेताश्वतर, तो वे आर की नोक का चालीस हज़ारवाँ भाग जीव का परिमाण लिखते। क्योंकि अन्यत्र उन्होंने जीव का परिमाण बाल की नोक का दस हज़ारवाँ भाग लिखा है, और बाल की नोक आर की नोक से बहुत सूक्ष्म होती है, यहाँ उन्होंने बुद्धि और आत्मा के परिमाण को मिला कर लिखा है, और बुद्धि आत्मा से बहुत स्थूल है, अतः सम्मिलित परिमाण को आर की नोक के समान लिख दिया है।

ठण्डे गङ्गाजल में गोता लगाते ही सारे शरीर में शीत स्पर्श का अनुभव होता है। यदि आत्मा शरीर के एक भाग हृदय में ही है तो चैतन्य भी उतने ही स्थान में होगा तब फिर सारे शरीर में शीत स्पर्श के अनुभव का साधन कौन है? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"अविरोधश्चन्दनवत्" २३

कोई विरोध नहीं, यह अनुभव चन्दन के स्पर्श के समान हो सकता है जैसे कि चन्दन शरीर के एक भाग में लगाया जाता है और उसके शीतलस्पर्श का अनुभव सारे शरीर में होता है इसी प्रकार आत्मा शरीर के एक भाग में होता हुआ भी सारे शरीर की घटनाओं का अनुभव कर लेता है।

चन्दन और आत्मा के अवस्थान में भेद है अतः दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि चन्दन की स्थिति शरीर के एक भाग में निश्चित है और आत्मा की स्थिति का कोई निश्चय नहीं। इसके उत्तर में लिखते हैं—

"अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि २४

आत्मा की स्थिति भी शरीर के एक भाग हृदय में निश्चित है। प्रमाण पढ़िए "हृदि ह्येष आत्मा" (प्र० ३.६.) (यह आत्मा हृदय में है) "स वा एष आत्मा हृदि" (छा० ८.३.३.२) (यह आत्मा हृदय में है) "कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृ० ४.३.७.) (आत्मा कौन है जो कि प्राणों के मध्य में ज्ञानवान् हृदय के अन्दर ज्योतिरूप है)।

ये सब श्रुतिएँ आत्मा के रहने का स्थान शरीर का एक भाग हृदय बतला रही हैं इसलिए चन्दन का दृष्टान्त ठीक है।

अभी दृष्टान्त ठीक नहीं हुआ एक कमी और है और वह यह कि चन्दन सावयव पदार्थ है वह यद्यपि एक स्थान पर लगाया गया है परन्तु फिर भी उसके अवयव सारे शरीर में फैलकर शीतलता पहुँचा सकते हैं। जीवात्मा तो अणु तथा निरवयव पदार्थ है, वह सारे शरीर की घटनाओं का अनुभव कैसे कर सकेगा। इसके उत्तर में लिखा है—

गुणाद्वाऽऽलोकवत्। २५

आत्मा यद्यपि शरीर के एक भाग में है। परन्तु उसका गुण अर्थात् ज्ञान रूप प्रकाश बाहर भी फैला हुआ है। जैसे कि सूर्य आदि प्रकाश वाले तत्वों का। अतः वह अपने प्रकाश से सारे शरीर की

घटनाओं का अनुभव कर लेता है। जैसे कि कहा भी है—

"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते" (बृ. ४-४-२)

(उस हृदय का अग्र अर्थात् चारों ओर का भाग चमक रहा है) जिस प्रकार हृदय के अन्दर बैठे हुए आत्मा का ज्ञान रूप प्रकाश हृदय के बाहर भी फैला हुआ है, ठीक इसी प्रकार उसका सारे शरीर में और शरीर से बाहर भी फैल जाना सम्भव है।

गुण गुणी से बाहर कैसे रह सकेगा। क्योंकि फूल का या कपड़े का सफेद रूप उसका गुण है, और वह फूल या कपड़े से बाहर नहीं रह सकता। इसके उत्तर में लिखते हैं—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

गुणों की अपने अपने आधार से बाहर भी सत्ता देखी गई है। जैसे कि कस्तूरी के गन्ध की। इसलिये आत्मा का प्रकाश भी अपने आधार से बाहर फैल सकता है।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि कस्तूरी के परमाणु कस्तूरी से निकल कर वायुमण्डल में फैलते रहते हैं, उन्हीं के साथ गये हुए गन्ध की बाहर प्रतीति होती है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। यदि कस्तूरी से उसके परमाणु इस प्रकार प्रति क्षण निकलते रहें तो उसका तोल कम हो जाना चाहिये। परन्तु वर्षों शीशी में रक्खी हुई भी कस्तूरी तोल में कम नहीं होती। हां ऐसे पदार्थ भी हैं जिनके अवयवों का संयोग बहुत शिथिल होता है और वे परमाणुओं में पृथक् हो २ कर वायु में फैलते हुए सारे ही समाप्त हो जाते हैं जैसे कि कपूर वस्तुतः कपूर भी मूल पदार्थ नहीं। यह केले से पृथक् किये गये उन अवयवों का समुदाय है जिनका स्वभाव ही उड़ने का है। केले में ही ऐसे भी अवयव हैं जिनके साथ होते हुए ये अवयव उड़ न सकते और केले की सत्ता तक उसके साथ ही रहते। और अब भी इनकी ही नहीं केले की भी सत्ता समाप्त हो गई है, क्योंकि इनके पृथक् होने केले का अवयव सन्निवेश बिगड़ गया है। परन्तु कस्तूरी के अवयवों का संयोग इतना ठोस है कि वह उसके परमाणुओं को पृथक् नहीं होने देता। और यह ही कारण है कि वर्षों रक्खी रहने पर भी उसका परिमाण कम नहीं होता। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे दृढ़ पदार्थ हैं, जिनका गुण तो बाहर फैला रहता है परन्तु उनके अवयव अपने आधार से कभी पृथक् हो ही नहीं सकते जैसे कि हीरा। इसी का दृष्टान्त पहिले सूत्र में "आलोकवत्" दिया गया है। हीरे को यदि हज़ारों वर्ष के बाद भी तोला जावे तो उसका परिमाण कम नहीं होगा, उतना ही रहेगा। अतः विवश यह ही कहना पड़ेगा कि हीरे का प्रकाश तो उससे बाहर निकल रहा है उसके परमाणु नहीं जैसे कि कोहनूर हज़ारों वर्ष से अब तक चमक ही रहा है। हां यह हो सकता है कि वह कभी नष्ट हो जावेगा, और उसका प्रकाश भी। क्योंकि यह सावयव पदार्थ है, इसके अवयवों का संयोग धीरे धीरे ढीला हो जावेगा, और यह समय पाकर कभी नष्ट भी हो जावेगा। क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न हुई है उसका नाश अवश्य होगा। परन्तु यह नहीं हो सकेगा कि वह रहे और उसका प्रकाश न रहे।

यह एक दृष्टान्त है। और दृष्टान्त एक अंश में हुआ करता है। जीवात्मा की परिस्थिति उससे भिन्न है। वह सावयव नहीं निरवयव है। वह न उत्पन्न हुआ है और न नष्ट होगा। अतः न उसके पुराने होने की सम्भावना है और न उसके प्रकाश के कम होने की। इसीलिये दृष्टान्त देने के लिये उसके समान नित्य वस्तु संसार मिल नहीं सकती थी, अतः हीरे का दृष्टान्त दिया गया है। पुराना होने पर हीरे का प्रकाश कुछ मध्यम पड़ सकता है, परन्तु यों तो पुराना होने पर वस्तु के रूप आदि अन्य

गुण भी जो कि अपने आधार से बाहर नहीं फैलते मध्यम पड़ जाते हैं। परन्तु हम पहिले भी कह आये हैं कि आत्मा की परिस्थिति इन पदार्थों से भिन्न है। वह नित्य है और उसका प्रकाश भी नित्य है। अतः न इसके नष्ट होने की सम्भावना है, और न इसका प्रकाश कभी मध्यम पड़ सकता है।

तथा च दर्शयति ॥२७॥ पृथगुपदेशात् ॥२८॥

इसी प्रकार उपनिषत्कार तत्वज्ञानी ऋषि दिखला रहे हैं, और आत्मा के ज्ञान का उससे पृथक् भी फैले रहने का उपदेश दे रहे हैं। जैसे कि—

यत्रैष एतत्सुषुप्तोऽभूत्; य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तरहृदय आकाशस्तस्मिन् शेते। (ब्र. २।१।१७)

(वह इन प्राणों अर्थात् इन्द्रियों के विज्ञान को (विज्ञायतेऽनेनेतिविज्ञानम्) ज्ञान की साधन इन्द्रियों की शक्ति को, अपने विज्ञान से समेट कर, जोकि यह हृदय के अन्दर आकाश है उसमें सोता है)। महात्मन् ? देखिये इससे अधिक स्पष्टीकरण श्रुति और क्या करेगी। यहां विज्ञान का विज्ञान से समेट लेना, और आत्मा का हृदयाकाश में सोना दोनों ही ध्यान देने योग्य बातें हैं।

इन्द्रियों की शक्तियें बाह्य वस्तुओं के विज्ञान में साधन हैं। इसलिये उन्हें भी यहां विज्ञान कह दिया गया है जैसे कि—प्राण के साधन अन्न को "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः" (अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं) इस वाक्य में प्राण कह दिया गया है।

आत्मा हृदय में बैठा हुआ बाहर काम करने वाली इन्द्रियों की शक्तियों को समेट रहा है। अब उस अन्दर बैठे हुए को उनकी बाहर की शक्तियों को समेटने के लिये कोई साधन चाहिये। और वह साधन यहां बतलाया गया है आत्मा का विज्ञान। उसका विज्ञान भी इन्द्रियों की शक्तियों को तब ही समेट सकेगा जब कि उसकी पहुंच इन्द्रियों तक हो। और उस पहुंच का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि उस विज्ञान को आत्मा से बाहर भी इन्द्रियों तक फैला हुआ माना जावे। इस प्रकार इस एक ही उपनिषद् वाक्य ने इतने विषयों पर प्रकाश डाला है।

१—आत्मा का विज्ञान आत्मा के स्वरूप तक ही सीमित नहीं है वह उसके बाहर भी दूर तक फैला हुआ है।

२—आत्मा का विज्ञान आत्मरूप ही नहीं प्रत्युत वह उससे पृथक् उसका गुण है।

३—आत्मा ने सोते समय अपने गुण विज्ञान के द्वारा इन्द्रियों की शक्तियों को तो समेट लिया है विज्ञान को नहीं।

तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

किसी २ स्थान पर उपनिषदों में आत्मा को भी जो "प्राज्ञ" (ईश्वर) की तरह विभु कह दिया जाता है—वह इसके इस ज्ञान गुण के ही बल पर कहा जाता है। क्योंकि इसका विज्ञान गुण इससे बाहर भी फैला हुआ है। अन्यथा आत्मा तो अणु है और हृदय के एक भाग में ही विराजमान है उसके लिये ऐसा कहा नहीं जा सकता था।

वि. बो.—भगवन्! इस सूत्र के "तद्गुणसारत्वात्" पद में आये हुए तत शब्द से, बुद्धि नामक उपाधि के ग्रहण में क्या आपत्ति है। ऐसा मान लेने पर सङ्गति इस प्रकार लग जावेगी कि आत्मा तो व्यापक ही है परन्तु उसकी उपाधि बुद्धि के अणु होने से उसे संसार अवस्था में अणु कह दिया गया है। और इस प्रकार जितने भी अणुवाद हैं वे सब उपाधि के अणु होने के कारण सङ्गत हो सकते हैं। और जहां उसे विभु कह दिया गया है वे वचन उसके परमार्थ विभुरूप को लेकर सङ्गत हो सकते हैं।

म० व्या०—महात्मन्! यह भाव आप अपनी ओर से कल्पित कर सकते हैं। सूत्रकार के शब्दों से यह प्रकट नहीं होता क्योंकि ऊपर से अणु आत्मा के गुण विज्ञान का प्रसङ्ग छिड़ा हुआ है, और तत्पद पूर्व का परामर्श किया करता है अतः तत्पद से विज्ञान गुण का ही ग्रहण किया जा सकता है।

वि० बो०—भगवन्! तत्पद बुद्धिस्थ का भी तो परामर्श किया करता है अतः इस प्रसङ्ग में सूत्रकार की बुद्धि में विद्यमान बुद्धि का परामर्श तत्पद से होगया होगा।

म० व्या०—महात्मन्! बुद्धिस्थ का परामर्श तत्पद से तब हुआ करता है जब कि प्रसंग में "तत्" के परामर्श के लिए कोई पदार्थ न हो। यहाँ तो पहले से विज्ञान का प्रसङ्ग चला आ रहा है उसको छोड़ कर बुद्धिस्थ पदार्थ का परामर्श न्याय सङ्गत नहीं। और ग्रन्थकार का भी यह कर्तव्य हुआ करता है कि यदि उसे प्रसङ्ग में आते हुए किसी पद को छोड़ कर किसी दूसरे का प्रसङ्ग बदलना हो तो तत्पद का उल्लेख न कर जिसका प्रसङ्ग चलाना है उस अर्थ को उसके वाचक शब्द से कह दे, परन्तु यहां ऐसा किया नहीं गया, अतः यहाँ बुद्धि का नहीं, प्रसंग में आते हुए ज्ञान का ही परामर्श किया जावेगा। आप इस सारे ही अधिकरण के सूत्रों पर दृष्टिपात करें कि क्या कहीं आत्मा के विभुत्व का और बुद्धि उपाधि का भी उल्लेख मिलता है? आपको ऐसी झलक कहीं भी दीख न पड़ेगी। अतः इस सूत्र के तत्पद से विज्ञान का ही ग्रहण करना ठीक है बुद्धि का नहीं।

वि० बो०—भगवन्! ऐसा माना जाता है कि उपनिषदों में सर्वत्र परब्रह्म का ही प्रतिपादन है उसके अतिरिक्त और कोई चैतन्य है ही नहीं; जैसा कि उपनिषदों में स्पष्ट ही कहा गया है—

नान्योऽतोस्तिद्रष्टा नान्योतोस्ति विज्ञाता (बृ० ३।७।२३)

(उसके अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं और न और कोई ज्ञानी है) तथा "**नान्योतोस्ति द्रष्टृ, श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ**" (छा० ६।८।७) (उस से भिन्न और कोई देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और ज्ञान करने वाला नहीं) जबकि उपनिषदों की यह सम्मति है तो आपके कथन के अनुसार जीव पृथक् चेतन कैसे मान लिया गया?

म० व्या—महात्मन्! यह जो कुछ कहा गया है ठीक ही है, केवल भाव के समझने में थोड़ा अन्तर है। क्योंकि सारे विश्व को, उसके अवान्तर भेदों को तथा उनके गुण कर्म स्वभावों को सर्वांश में जानने वाला भगवान् के अतिरिक्त और कोई चेतन नहीं? तात्पर्य यह है कि और सब चेतन अल्पज्ञ अर्थात् थोड़ा जानने वाले हैं। ये दोनों वचन एक ही भाव को कह रहे हैं। अब आप बतलाइये कि इन वाक्यों से जीव का निषेध कैसे होगया?

वि० बो०—भगवन्! "तत्त्वमसि" (छां० ६।६।७) इस वाक्य में तत्पद मायाऽवच्छिन्न ब्रह्म का, "त्वं" पद अविद्याऽवच्छिन्न ब्रह्म का, और "असि" पद सत् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का वाचक है, इनके समन्वय का और कोई उपाय न होने से भागत्यागलक्षणा करके तत्पद की माया उपाधि का, और "त्वं" पद की अविद्या उपाधि का त्याग कर शुद्धब्रह्म शेष रह जाने से, तीनों पदों का अखण्ड ब्रह्म अर्थ किया जाता है, इससे जीव और ब्रह्म का अभेद स्पष्ट सिद्ध है, और जब कि जीव ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध हो गया तो उसका परिमाण विभु ही मानना पड़ेगा। इसमें अणु की प्रतीति बुद्धि उपाधि के कारण से व्यावहारिक है।

म० व्या०—महात्मन्! "तत्त्वमसि" वाक्य में उपाधि की कल्पना कर अर्थ करने की आवश्यकता नहीं। सारे प्रसङ्ग का भलीभांति स्वाध्याय करने से, बिना ही उपाधि-कल्पना किये, समन्वय ठीक बैठ जाता है। प्रसङ्ग यह है—

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।४)

(जो यह सूक्ष्म तत्व है, यह आत्मा है, और इस आत्मा से ही आत्मवान् यह सब जड़ चेतन जगत् है। अर्थात् यह सूक्ष्म तत्व ही इस सब में आत्मा की तरह प्रविष्ट हुआ हुआ इस सब को चला रहा है, यह सूक्ष्म तत्व ही सत्य कहलाता है, और सब के अन्दर होने से आत्मा है, हे श्वेतकेतो! "त्वम्" अर्थात् तू भी "तत्" अर्थात् तदात्मक—उसी आत्मा वाला है। तात्पर्य यह है कि तेरे आत्मा के अन्दर भी वही आत्मा प्रविष्ट है, अतः तेरा भी वही आत्मा है। वहां तत् शब्द से पहले, इससे परामर्श करने योग्य दो शब्द आये हैं, एक "आत्मा" और दूसरा "ऐतदात्म्यम्", यदि आत्मा का परामर्श किया जावे तो आत्मा यहाँ पर शुद्ध ब्रह्म का नाम है, और "त्वम्" अल्पज्ञ चेतन का। इन दोनों का अभेद अन्वय न हो सकेगा, और फिर जीव में उपाधि की कल्पना कर जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध करने का अवसर आवेगा, और यदि "ऐतदात्म्यम्" शब्द का परामर्श किया जावे तो "त्वम्" अर्थात् जीव के साथ इस का अन्वय करते समय कोई कठिनाई न होगी क्योंकि "ऐतदात्म्यम्" का अर्थ है इस आत्मा वाला। और यह ब्रह्मरूप आत्मा जीव में ओतप्रोत है ही, अतः जीव को इस आत्मा वाला कहने में कोई आपत्ति सामने नहीं आती। बिना ही उपाधि की कल्पना किये "तत्" और "त्वम्' शब्द का अन्वय ठीक बैठ जाता है, और "असि" शब्द क्रियावाचक भावबोधक होता हुआ उनके साथ अन्वित हो जाता है।

अब बात विचारणीय यह रह जाती है कि "तत्" पद से आत्मा पद का परामर्श किया जावे अथवा "ऐतदात्म्यम्" का। इस विषय को भी उपनिषत्कार ऋषि के यथाश्रुत शब्दों से ही निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इन दोनों शब्दों में से एक "आत्मा" पुंल्लिङ्ग है, और दूसरा ऐतदात्म्यम्" नपुंसक लिङ्ग है। परामर्श करने वाला "तत्" शब्द भी नपुंसकलिङ्ग ही है, इसलिए तत् शब्द से "ऐतदात्म्यम्" शब्द का ही परामर्श होगा, पुंल्लिङ्ग होने से आत्मा का नहीं, और परामर्श करने के बाद अन्वयबोध करते समय कोई कठिनाई भी न होगी क्योंकि ब्रह्म जीव के अन्दर व्यापक है ही और इस व्यापकता का ही बोध "त्वम्" के साथ "ऐतदात्म्यम्" का अन्वय करने से होगा और किसी अर्थ का नहीं। इसलिए जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता और इसीलिए जीव अणु ही है व्यापक नहीं।

सुषुप्ति तथा प्रलय में आत्मा को कोई ज्ञान नहीं होता तो क्या उस समय वह ज्ञान से रहित ही होता है? और यदि हाँ, तो फिर यह उसका स्वाभाविक गुण कैसा? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"यावदात्मभावित्वाच्च दोषस्तद्दर्शनात्"। ३०

(आत्मा का गुण ज्ञान सदा उसके साथ ही रहता है अतः सुषुप्ति तथा प्रलय में भी यह चैतन्य उसी में रहता है इसलिये कोई दोष नहीं) हाँ उसके अपने ज्ञान के प्रकाश से जो विषयों का भानरूपी ज्ञान जागते हुए हुआ करता है, वह सुषुप्ति में नहीं होता, क्योंकि उस समय तमोगुणप्रधान अवस्था होने के कारण वह अपने साधन इन्द्रियों और मन से उपयोग नहीं ले सकता। मनुष्य को जगने पर यह स्मृति हुआ करती है कि मैं आज सुख से सोया, यह सुषुप्ति में सुख से सोने की स्मृति सुषुप्ति

में हुए किसी अनुभव के बिना नहीं हो सकती, और वह अनुभव उसके आत्मा को उसके चैतन्य के बिना नहीं हो सकता, अतः आत्मा का ज्ञान सुषुप्ति में भी उसके साथ विद्यमान था और प्रलय में भी। क्योंकि प्रलय के बाद सृष्टिकाल में जब जीव योनि में आता है उसी प्रकार विज्ञान का कार्य आरम्भ हो जाता है, और विषयों के अनुभव होने लगते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि प्रलय में भी जीव के पास उसका अपना ज्ञान सुरक्षित था, जिससे कि वह सृष्टि के आरम्भ में ही काम लेने लग गया।

तपश्चर्या तथा योग समाधि आदि से जब जीव का ज्ञान बढ़ता है तो उसमें इस नवीन ज्ञान की वृद्धि का क्या प्रकार है क्योंकि नित्य वस्तु में किसी भी नये तत्व का समावेश नहीं हो सकता इसके उत्तर में लिखते हैं कि—

"पुँस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्" । ३१

आत्मा के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। उसका ज्ञानरूपी प्रकाश जहाँ तक उसकी शक्ति है सदा ही विस्तृत रहता है। केवल साधनों के अभाव से उसकी अभिव्यक्ति न होने के कारण वह प्रकट नहीं होता। तपश्चर्या तथा योग आदि साधनों से इसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। जैसे कि मनुष्यों में बाल्य अवस्था में पुरुषत्व शक्ति विद्यमान हो होती है परन्तु उस समय उसके विकास के साधन न होने से वह प्रकट नहीं होती। जब युवा अवस्था में विकास के साधन सञ्चित हो जाते हैं तब वह प्रकट हो जाया करती है, अतः तपश्चर्या तथा योगादि साधनों से जीव के विद्यमान विज्ञान का विकास होता है नई उत्पति नहीं। इसलिए कोई दोष नहीं।

यदि ब्रह्म से भिन्न अणु आत्मा न मानकर सब शरीरों में एक ही व्यापक आत्मा मान लिया जावे तो क्या क्षति है ? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा ।" ३२

(ऐसी अवस्था में तो आत्मा की उपलब्धि (ज्ञान) अर्थात् मोक्ष तथा अनुपलब्धि (अज्ञान) अर्थात् बन्ध प्रत्येक जीव को सदा ही प्रतीत होने चाहिएँ, क्योंकि वह आत्मा सब शरीरों में तथा शरीरों से बाहर मुक्तों तथा अमुक्तों में भी एक ही है। इसलिए वह किसी स्थान से बद्ध हुआ और किसी स्थान से मुक्त, कोई भाग उसका ज्ञानी हुआ और कोई अज्ञानी। इस प्रकार ये दोनों अवस्थाएँ अपने अन्दर उसे हर समय प्रतीत होनी चाहिएँ, अथवा बन्ध और मोक्ष, ज्ञान और अज्ञान, इन दो जोड़ों में से एक एक चीज़, अर्थात् मोक्ष और ज्ञान अथवा बन्ध और अज्ञान, इनमें से किसी एक का नियमित संस्थान उसमें मानना पड़ेगा, इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं, परन्तु ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके अन्दर मानी नहीं जा सकती क्योंकि न तो आत्मा अपने अन्दर एक ही काल में बन्ध और मोक्ष का अर्थात् दुःख और सुख का अनुभव करते हुए दिखाई देते हैं, और न कोई सदा बद्ध ही, अथवा मुक्त ही, अर्थात् दुःखी ही अथवा सुखी ही देखने में आता है। अतः सब शरीरों में व्यापक एक आत्मा नहीं माना जा सकता। आत्मा सब शरीरों में भिन्न भिन्न हैं और अणु होते हुए प्रत्येक शरीर के हृदय देश में रहते हैं। हम समझते हैं कि इस विषय को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया गया है अतः अधिक न कह हम अपने भाषण को यहीं विराम देते हैं।

आत्मबोध—पूज्य महर्षे ! आपने युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा इस गम्भीर विषय का जितनी सरलता और सुन्दरता के साथ निरूपण किया है यह आप का ही भाग था। इसके लिए हम लोग

आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। अब मैं प्रधान जी की आज्ञानुसार पूज्य महर्षि जैमिनि जी की सेवा में सविनय प्रार्थना करूँगा कि वे भी अपने विचार इस विषय पर प्रकट कर हमें अनुगृहीत करें।

म० जै०—महात्मन्! आपकी प्रेरणा के अनुसार मुझे दो शब्द कर देने में कोई आपत्ति नहीं। आप जानते ही होंगे कि यह विषय हमारे शास्त्र के अधिकार से बाहर की वस्तु है। वेद के एक भाग कर्मकाण्ड का स्पष्टीकरण करना ही हमने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया हुआ है, यह विषय भ्राता व्यास देव जी के व्याख्यान से सम्बन्ध रखता है। अध्यात्मविषय के विवेचन का भार उन्होंने ही अपने कन्धों पर लिया हुआ है, और प्रस्तुत विषय का अपने वक्तव्य में स्पष्टीकरण भी उन्होंने भली भांति कर दिया है। वेद के ही दो भागों का हम दोनों ने पृथक् पृथक् व्याख्यान किया है, इस नाते से हमारा और उनका तन्त्र समान ही है, अतएव मैं उनके वक्तव्य का अनुमोदन करता हुआ अपने कथन को यहाँ ही समाप्त करता हुआ अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षे! आपने महर्षि व्यासदेव जी के वक्तव्य का अनुमोदन कर उनके निर्णीत किये हुए विषय की हमारे हृदयों में जमी हुई धारणा को और भी पुष्ट कर दिया है, इसलिए हम लोग आपके कृतज्ञ है। इसके बाद मैं तार्किक शिरोमणि पूज्यपाद महर्षि कणाद जी से प्रार्थना करूँगा कि वे इस विषय पर अपने शास्त्र के आधार पर प्रकाश डाल हमें अनुगृहीत करें।

म० क०—उपस्थित विद्वन्मण्डल तथा जिज्ञासु सज्जनो! यद्यपि वैशेषिक दर्शन में इस विषय का स्पष्टीकरण हमने भलीभांति कर दिया है, परन्तु फिर भी आपकी प्रेरणानुसार हम इस विषय का निर्णय करते हुए आत्मा के अणु परिमाण का ही समर्थन करते हैं।

वि० बो०—भगवन्। आपने अपने दर्शन में लिखा है।

"विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा" (वै० अ० ७ आ० १ सू० १२)

(आकाश व्यापक और महान् है और इसी प्रकार आत्मा भी), इस प्रकार आपके इस लेख से तो आत्मा व्यापक सिद्ध होता है अणु नहीं।

म० क०—हाँ इस ग्रन्थका गहराई में जाकर अध्ययन किये बिना स्थूल दृष्टि से इस सूत्र का अर्थ यह ही प्रतीत होगा। परन्तु वस्तुतः इस सूत्र का भाव और है। जिस अणुवाद का हमने समर्थन किया है उसी का प्रतिपादन इस शास्त्र में किया गया है, इसके लिए हम आपको इस ग्रन्थ का एक प्रकरण सुनाते हैं।

"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" (अ० ५ आ० १ सूत्र १)

कोई आदमी मूसल हाथ में लेकर ओखली में धान कूट रहा है, मूसल को ओखली में मारते समय उसके हाथ में क्रिया की उत्पत्ति के साधनों का वर्णन इस सूत्र में किया गया है, कहा गया है कि आत्मा के प्रयत्न और संयोग से हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है।

हाथ में क्रिया तो प्रयत्न और आत्मा के संयोग से होगई, परन्तु मूसल में क्रिया का साधन क्या है? इसके उत्तर में लिखते हैं।

"तथा हस्तसंयोगान् मुसले कर्म" (२)

(इसीप्रकार हाथ के संयोग से मूसल में क्रिया उत्पन्न हुई)

फिर जब कि मूसल ओखली की चोट खाकर ऊपर की ओर उछला तो उस मूसल की क्रिया में क्या साधन है ? क्या प्रयत्न वाले हाथ का संयोग ही इस क्रिया में भी कारण है ? इसके उत्तर में लिखते हैं —

"अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः" (३)

मूसल आदि की यह क्रिया ओखली के साथ हुए प्रबल संयोग रूप अभिघात से उत्पन्न होती है, अतः पहले की तरह प्रयत्न वाले हाथ का संयोग इस क्रिया में कारण नहीं क्योंकि यह क्रिया उलटी है।

मूसल के ऊपर की ओर उछलने से जो अब हाथ में क्रिया उत्पन्न हुई है, क्या उसका कारण भी प्रयत्न वाले आत्मा का हाथ से संयोग ही है ? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"तथाऽऽत्मसंयोगो हस्तकर्मणि" (४)

(इसी प्रकार इस बार की हाथ की क्रिया में भी आत्मा का संयोग कारण नहीं)

"अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म" (५)

इस बार ओखली के अभिघात से मूसल में क्रिया उत्पन्न हुई है, और उस क्रियावान मूसल के संयोग से हाथ में क्रिया उत्पन्न हुई है।

"आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च" (६)

(और इस क्रियावान् हाथ के संयोग से आत्मा में क्रिया उत्पन्न हुई है) इस प्रकरण के इस अन्तिम सूत्र का भाव सुनकर आप समझ गये होंगे कि हमने स्पष्ट शब्दों में आत्मा में क्रिया को स्वीकार किया है यदि हम आत्मा को विभु मानते होते तो उसमें क्रिया का स्वीकार कभी न करते, क्योंकि मध्यम अथवा अणु परिमाण वाली वस्तु में तो क्रिया का होना सम्भव है क्योंकि वह हिल-जुल सकती है, और इधर-उधर आ जा सकती है, परन्तु एक विभु परिमाण वाले पदार्थ में क्रिया का होना सर्वथा असम्भव है, और यहाँ हमने आत्मा में क्रिया मानी है अतः उसका परिमाण अणु ही मानना पड़ेगा और कुछ नहीं। क्योंकि मध्यम परिमाण मानने पर आत्मा को विनाशी मानना पड़ जावेगा जो कि हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इसी विषय को एक दूसरे प्रकरण में भी हमने ध्वनित किया है उसे भी सुनिये—

साधर्म्य वैधर्म्य के प्रकरण में कुछ पदार्थों का वैधर्म्य (जो धर्म उसमें न रहता हो) कहते समय लिखा है—

"दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि" (अ० ५ आ० २ सू० २१)

"एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" (२२)

दिशा काल और आकाश ये तीनों क्रियावान् पदार्थों से विधर्मा हैं इसलिए इनमें क्रिया नहीं है। और इसी प्रकार कर्मों और गुणों में भी क्रिया नहीं है क्योंकि वे भी क्रियावान् पदार्थों से विधर्मा हैं। (२१.२२) यहाँ गुण और कर्म तो द्रव्यों में ही रहते हैं, इसलिए उनमें तो आना जाना आदि क्रियाओं का सम्भव ही नहीं, जिन द्रव्यों में वे रहते हैं उनमें क्रिया हो सकती है, गुणों में और कर्मों में नहीं, इसलिए इनमें क्रिया का निषेध किया गया है। दूसरे तीन पदार्थ दिशा, काल और आकाश

व्यापक हैं, उनमें क्रिया हो ही नहीं सकती, इसलिए उनमें भी क्रिया का निषेध किया गया। यदि और भी किसी द्रव्य में क्रिया न होती तो उस की भी गणना इन्हीं पदार्थों में कर देते, परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि और सब पदार्थ क्रिया वाले हैं और जिनमें क्रिया है, उन्हें व्यापक माना नहीं जा सकता। आत्मा भी उन तत्वों में से ही एक है जिनमें कि क्रिया मानली गई है। और जब कि उसमें क्रिया है तो वह व्यापक हो नहीं सकता, अतः उसका परिमाण इस प्रकरण में भी अणु ही माना गया है।

वि० बो०—भगवन्! ठीक है। आप के इन दोनों प्रकरणों से आप के शास्त्र के अनुसार आत्मा अणु ही सिद्ध होता है, परन्तु आप ने हमारे पूर्व दिये हुए उद्धरण के अनुसार अपने इसी शास्त्र के एक सूत्र में आत्मा को आकाश की तरह व्यापक भी कहा है इसका क्या तात्पर्य है?

म० क०—महात्मन! आप के कथन का तात्पर्य हम समझ गये, आप इस शास्त्र में दो विरोधी सिद्धान्तों के वर्णन का निर्देश कर रहे हैं, परन्तु इसके साथ ही आप इस ओर भी अवश्य ध्यान देंगे कि साधारण मनुष्य भी अपने कथन को विरोध से बचाने का यत्न करता है तो फिर एक दार्शनिक इतने बड़े विरोध को अपने कथन में अथवा लेख में कैसे स्थान दे सकेगा?

महात्मन्! यदि जीवात्मा को ही विभु कहना होता तो दिशा, काल और आकाश के साथ ही विभुद्रव्यों के मुख्य प्रकरण में ही उसका भी उल्लेख कर दिया जाता, परन्तु ऐसा किया नहीं गया, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह उल्लेख जीवात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में नहीं एक दूसरे आत्मा परमात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में है।

वि० बो०—भगवन्! आप तो परमात्मा मानते हो नहीं क्योंकि पदार्थ गणना में उसका कहीं नाम ही नहीं आया।

म० क०—महात्मन्! ऐसी बात नहीं, परमात्मा का नाम पदार्थ गणना में आया है, सूत्रकार अपने लेख को अधिक से अधिक संक्षिप्त करने का साधन ढूँढा करते हैं और इसीलिए एक एक अक्षर की बचत को भी वे बड़ा महत्व दिया करते हैं, जब कि एक आत्मा कहने से ही दोनों आत्माओं का नाम निर्देश समझा जा सकता है तो दूसरी बार परमात्मा शब्द को लिखने का क्या अवश्यकता थी। हमारे समान तन्त्र, महर्षि गौतम के ग्रन्थ न्याय में भी आप इसी प्रथा को प्रचलित देखेंगे, उन्होंने भी प्रमेय पदार्थों में केवल आत्मा को गिनाया है और इस एक ही शब्द से परमात्मा का भी निर्देश समझ लिया गया है। कहीं कोई यह आशङ्का करे कि वे भी ईश्वर को न मानते होंगे, सो ऐसी बात नहीं। उन्हों ने भी प्रसङ्गवश परमात्मा के कार्य को बतलाते हुए अपने शास्त्र में ही अन्यत्र लिखा है ("ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" न्याय अ० ४ सू० १६)।

(ईश्वर जगत् का कारण है क्योंकि पुरुष के कर्म का उसकी सहायता के बिना फल नहीं मिल सकता) इस प्रकार पदार्थगणना में परमात्मा का पृथक् उल्लेख न करते हुए भी उसका विशेष कार्य बतलाते हुए इस प्रकरण में उन्होंने उसे प्रकट कर दिया है इसी प्रकार हमने भी पदार्थगणना में उसे आत्मा शब्द से ही लिखकर "विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा" (आकाश व्यापक और उसी की तरह आत्मा अर्थात् परमात्मा भी व्यापक और महान् है) इस सूत्र में उसे सर्वत्र व्यापक बतलाते हुए उसका पृथक् उल्लेख कर दिया है। उसके इस परिमाण का निदर्शन कर देने मात्र से

ही मनुष्य को उससे प्राप्त होने वाले लाभों की ओर ध्यान दिलाने का संकेत है। इस संकेत से समझे जाने वाले लाभ निम्नलिखित तथा अन्य भी हो सकते हैं।

(१) आत्मा को अपनी आत्मा में समझने वाला मनुष्य उस प्रभु को द्रष्टा जान पाप की ओर पग बढ़ाने से बच सकता है।

(२) उसे सर्वत्र व्यापक समझने वाला मनुष्य उसे अपने हृदय में भी विद्यमान जान कर कहीं और ढूँढने की निष्फल चेष्टा न करेगा।

(३) उसे अपनी आत्मा में जानने वाला मनुष्य इतने विशाल विज्ञान और आनन्द के भंडार महान् कोश के अपनी आत्मा में विराजमान होते हुए भी, मैं दुःखी तथा निर्धन क्यों रहूँ, यह समझता हुआ उसके उस महान् कोश को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा।

इस प्रकार जगन्नियन्ता सब कल्याणों के भण्डार भगवान् की समीपता से लाभ उठाने वाला मनुष्य अपने सारे ही दोषों के परिहार और उस प्रभु के अनेक पवित्र गुणों के दृश्य को लक्ष्य में रख उन्हें अपने आत्मा में संग्रह करने का प्रयत्न करता हुआ अपने आप को मोक्ष के प्रधान द्वार तक ले जा सकेगा। इस दृष्टि से भगवान् के इस एक ही गुण विभु परिमाण का यहाँ अनेक लाभों को ध्यान में रखते हुए प्रसंगवश उल्लेख कर दिया है। मैं समझता हूँ कि मेरे भाषण से आप का समाधान हो गया होगा, अतः मैं अपने प्रवचन को यहीं समाप्त करता हूँ।

आ० बो०—सभासद् वृन्द! आपने पूज्यपाद महर्षि कणाद का सारगर्भित भाषण ध्यान पूर्वक सुना है। आज तक लोगों को जो यह भ्रम था कि महर्षि कणाद आत्मा को व्यापक मानते हैं और ईश्वर का उन्होंने कहीं निरूपण नहीं किया, वह भ्रम आपके आज के भाषण से दूर हो गया। न्याय शास्त्र के रचयिता भगवान् अक्षपाद महर्षि को भी आप सब लोग भली-भांति जानते हैं। आपका शास्त्र ही तो सब व्यवहारों, सब विद्याओं और सब शास्त्रों का आधार भूत है। अतः अब आप भगवान् अक्षपाद महर्षि के विचार प्रेम से सुनिये। मैं महर्षि जी से प्रस्तुत विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रार्थना करता हूँ—

अ० पा० म०—महात्मन्! मुझे विचार प्रकट करने में तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु भाई कणाद जी जो कुछ कह चुके हैं, मेरे भाषण का भी लगभग वह ही विषय हो सकता है, क्योंकि उनका और हमारा तन्त्र समान है।

अ० बो०—भगवन्! महर्षि कणाद छः पदार्थ मानते हैं और आप सोलह। इस मतभेद के होते हुए आपका और उनका समान तन्त्र कैसे हुआ?

अ० पा० म०—महात्मन्! सोलह में छः अन्तर्भूत हैं और छः में सोलह। पदार्थ दोनों शास्त्रों में ही माने गये हैं। अन्तर केवल उनके विभाग करने में हैं और इस अन्तर से सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता। एक ही विषय का वर्णन कई प्रकार से किया जा सकता है। आप यदि गहराई में जाकर देखेंगे तो पता लगेगा कि सब दर्शन एक ही विषय का विभिन्न शैलियों से वर्णन कर रहे हैं।

वि० बो०—भगवन्! आप आत्मा को व्यापक मानते हैं और महर्षि कणाद अणु। कहिए इस मतभेद का क्या प्रतीकार होगा?

अ० पा० म०—आप ने यह कैसे जाना कि भाई कणाद आत्मा को अणु मानते हैं ?

वि० बो०—इसी प्रकार, कि वे आत्मा में क्रिया मानते हैं।

अ० पा० म०—और यह कैसे समझा कि हम आत्मा में क्रिया नहीं मानते ? आपने न्याय दर्शन पढ़ा होगा और आप यह जानते होंगे कि हमने प्रमेय का विभाग करते हुए बारह प्रमेय माने हैं। उन बारह में से एक प्रमेय प्रेत्यभाव भी है। आप यह भी जानते होंगे कि प्रेत्यभाव आत्मा का होता है। आप इस शब्द के "प्रेत्य" अंश पर विशेष ध्यान दीजिए यह शब्द प्र उपसर्ग इण् धातु और [क्त्वा] ल्यप् प्रत्यय के प्रयोग से बना है। 'इण्' धातु का अर्थ गति है और गति का अर्थ है क्रिया और प्र शब्द के साथ जोड़ देने से "प्रेत्य" शब्द का अर्थ 'प्रकृष्ट क्रिया करके' ऐसा हो जाता है। आपने कहा था कि महर्षि कणाद आत्मा में क्रिया मानते हैं। देखिए हम तो आत्मा में क्रिया ही नहीं प्रकृष्ट क्रिया अर्थात् विशेष क्रिया मानते हैं। इस विशेष क्रिया का नाम है "परायण" अर्थात् इस शरीर को छोड़कर जाना। प्रेत्यभाव शब्द का दूसरा अंश है भाव, इसका अर्थ है 'होना' अर्थात् दूसरे शरीर में आना, इन दोनों अर्थों को मिलाकर इस शब्द का अर्थ जाना आना अर्थात् आवागमन हो जाता है। अब तो आप समझ गये होंगे कि हम भी आत्मा को क्रियावान् मानते हैं और इसीलिए हमारे मत में भी आत्मा का परिमाण अणु ही है।

वि० बो०—हाँ महाराज ! ठीक समझ गया परन्तु अब तो मैं एक और उलझन में पड़ गया।

अ० पा० म०—कैसी उलझन ?

वि० बो०—देखिये, आपने एक स्थान पर प्रसङ्ग चलाया है कि आत्मा को जो ज्ञान होता है उसके संस्कार उसमें रह जाते हैं और उन संस्कारों से आत्मा और मन के संयोग द्वारा स्मरण हुआ करता है। इससे आगे चलकर कहा कि यह संयोग जब तक किसी कारण से नष्ट नहीं कर दिया जाता, आत्मा में ही बना रहता है और इसी आधार पर यह शङ्का की कि जब सब संस्कार आत्मा में ही हैं तो आत्मा के साथ मन का संयोग होते ही सारे संस्कारों से एक ही काल में सब स्मृतियें क्यों नहीं हो जातीं ? इसके उत्तर में किसी एकदेशी ने कहा कि—

"ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः" (न्याय० ३. २. २५)

(शरीर से बाहर या अन्दर आत्मा के जिस २ भाग से संस्कार सम्बन्धित हैं उस ही भाग से मन का संयोग होने पर स्मृतियें होती हैं, नहीं तो नहीं, और यह ही कारण है कि सब स्मृतियें एक काल में नहीं होतीं। आपने इस एकदेशी का खण्डन करते हुए यह तो कहा कि मन शरीर के बाहर काम नहीं कर सकता परन्तु यह नहीं कहा कि आत्मा शरीर के बाहर नहीं हैं, फलतः आपने आत्मा को शरीर से बाहर भी मान लिया, और बाहर मान लेने का अर्थ हो जाता है व्यापक मान लेना। अब एक ओर तो आप आत्मा में गमनागमन क्रिया मानकर उसे अणु मानते हैं और दूसरी ओर उसे व्यापक भी स्वीकार करते हैं, यह कैसे ? यह है मेरी उलझन।

अ० पा० म०—आप की उलझन ठीक है। अब इस उलझन को सुलझाने के लिए मैं आपके सामने न्याय और वैशेषिक की एक और उलझन रखने लगा हूँ।

आप यह जानते होंगे कि ये दोनों शास्त्र ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि को आत्मा के गुण मानते हैं।

वि० बो०—जी हाँ।

अ० पा० म०—और आप यह भी जानते होंगे कि मुक्त होने पर आत्मा में इन सारे ही गुणों का अभाव मानते हैं।

वि० बो०—हाँ यह भी जानता हूँ।

अ० पा० म०—अब आप इन दोनों सिद्धान्तों के समन्वय की ओर ध्यान दें। आत्मा नित्य है और नित्य पदार्थ के गुण नित्य ही हुआ करते हैं, अतः ज्ञान, इच्छा आदि यदि आत्मा के गुण हैं तो उन्हें मुक्ति में भी नष्ट न होना चाहिये, जैसे कि घड़े के रहते हुए घड़े का रूप। और यदि ये इच्छा द्वेष आदि गुण मुक्ति में भी आत्मा में बने रहे तो वह उसकी मुक्ति कैसी? यह ही शङ्का संस्कारों और वासनाओं के सम्बन्ध में भी की जा सकती है, एक दूसरी उलझन है जिसका सुलझना आवश्यक है और जिसके सुलझने ही आपकी वह पहली उलझन अपने आप सुलझ जावेगी। मैं इसे सुलझाने का यत्न करता हूँ। आप मेरे विचारों को ध्यान से सुनने का यत्न कीजिए।

महात्मन्! आत्मा अणु ही है। उसे हम चेतन अर्थात् ज्ञानवान् मानते हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश है उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का प्रकाश है और जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश उसके बिम्ब से निकल कर चारों ओर एक निश्चित केन्द्र में फैला हुआ है उसी प्रकार आत्मा का प्रकाश भी उसके चारों ओर एक निश्चित केन्द्र में फैला रहता है। अपने शरीर से बाहर निकलकर चारों ओर फैलते हुए इस प्रकाश ने कितने क्षेत्र को घेरा है, इसके उत्तर में निवेदन है कि इस परिधि को निर्धारित नहीं किया जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि यह प्रकाश सर्वव्यापक नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा अल्पज्ञ है। इसी प्रकाश के द्वारा विषयों के संसर्ग से और मन की सहायता से विषयों के ज्ञान और इच्छा, द्वेष आदि गुण इस प्रकाश से ही प्रकट होते हैं और फिर विरोधी अवस्थाओं को पाकर नष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु इनके उत्पन्न और नष्ट होते समय प्रकाश के आधार आत्मा में कोई विकार नहीं आता जैसे कि सूर्य के प्रकाश में विकार आने पर भी सूर्य के बिम्ब पर उसका कोई प्रभाव नहीं। विभिन्न प्रकार के संसर्गों से इस पर कई प्रकार के संस्कारों का संचार होता रहता है और यह संस्कार प्रकाश में ही होता है बिम्ब में नहीं। जिन महात्माओं ने सत्सङ्ग तपश्चर्या, योग समाधि आदि के प्रभाव से कुसंस्कारों को हटाकर इसे पवित्र संस्कारों से पूर्ण कर दिया है उनके समीप आने वाले जिज्ञासु साधारण लोग भी उनके इस प्रकाश के ही प्रभाव से कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर चल पड़ते हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

(अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके पास आते ही परस्पर विरोधी लोगों के विरोध छूट जाते हैं) अहिंसक मनुष्य के पास पहुँचने मात्र से विरोध कैसे छूट जावेंगे? इस प्रश्न का उत्तर ऊपर की पंक्तियों में ही दिया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि जिस महात्मा के पास वे लोग आये हैं उसके ज्ञान का प्रकाश उसके चारों ओर फैला हुआ है और अब उसमें से हिंसा की भावनाओं को उनके स्थान पर करुणा और प्रेम की भावनाओं का संचार किया जा चुका है आगन्तुक लोगों के संस्कार यद्यपि इन संस्कारों के विपरीत हैं परन्तु शाण पर लगाई हुई तलवार की भांति महात्मा के ज्ञान के संस्कार तीक्ष्ण तथा प्रभावशाली हैं, अतः उस प्रकाश के प्रभाव में आते ही इनके संस्कार दब जाते हैं और

प्रेम भावनाओं को प्रकट होने का अवसर मिल जाता है। यह ज्ञान का प्रकाश और अन्तःकरण मिले-जुले होते हैं और इसके परिवर्तन के साथ साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहता है। आगन्तुक लोगों के ऊपर यह प्रभाव अस्थिर रूप से हुआ है और तब तक ही रहता है जब तक कि ये इसके प्रकाश में हैं। हाँ यदि ये बहुत देर तक इसके पास आते रहें और स्वयं उस ओर चलने का अभ्यास करते रहें तो यह प्रभाव स्थिर हो सकता है।

यह प्रकाश सदा आत्मा के साथ रहने वाला है, इसलिये यह ही आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान इच्छा आदि नैमित्तिक गुण हैं यह ही कारण है कि मुक्ति के समय आत्मा का यह स्वाभाविक गुण जो चैतन्य है इसके साथ रह जाता है और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि सब नैमित्तिक गुण समाप्त हो जाते हैं। परन्तु हमारे पूर्व कथन के अनुसार चैतन्य के आधार आत्मा पर इनके विनाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भव है अब आप समझ गये होंगे कि आत्मा का परिमाण अणु है, उसका स्वाभाविक ज्ञानरूपी प्रकाश उसके शरीर में से होता हुआ बाहर तक फैला हुआ है और यह प्रकाश मुक्ति के समय भी इसके साथ रहता है।

एकदेशी के इस कथन का कि (स्मृति के समय मन का संयोग आत्मा के बाहर के प्रदेश से भी होता है क्योंकि स्मृतियों के लिये संस्कार जहाँ भी हो उसके साथ संयोग का होना आवश्यक है) हमने इस अंश में तो खण्डन किया है कि मन बाहर जाकर आत्मा के बाहर वाले संस्कृत प्रदेश से सम्बन्ध करे, परन्तु आत्मा के बाहर के प्रदेश की सत्ता का हमने निषेध नहीं किया कारण यह ही था कि हम आत्मा के ज्ञान का प्रकाश शरीर से बाहर भी मानते हैं, आशा है अब आपकी उलझन का समाधान हो गया होगा।

वि० बो०—भगवन् यह तो समाधान हो गया परन्तु आपके इस समाधान से एक और शङ्का उठ खड़ी हुई।

अ० पा० म०—वह क्या?

वि० बो०—वह यह कि आपने आत्मा के गुण ज्ञान को आत्मा से बाहर भी शरीर में तथा शरीर से भी बाहर तक फैला हुआ कह दिया है। और गुण की सत्ता गुणी से बाहर होती नहीं। जैसे कि फूल का रूप फूल से बाहर नहीं रह सकता।

अ० पा० म०—यह ठीक है कि बहुत से गुण गुणी से बाहर नहीं रह सकते। परन्तु प्रकाश गुण का ऐसा स्वभाव है कि वह गुणी से बाहर रह सकता है। जैसे कि सूर्य का प्रकाश और हीरे का प्रकाश अपने गुणी से बाहर रहते हैं। और इस विषय पर महर्षि व्यासदेव जी यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं। उनका प्रवचन मैंने और आपने सुना ही है अतः फिर उसी के दुहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः हम अपने इस प्रवचन को यहीं समाप्त कर अपना आसन ग्रहण करते हैं।

आ० बो०—भगवन्! इस विषय पर आपके भाषण से पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बहुत से लोगों के भ्रम दूर हो गये हैं। हम सब आपके कृतज्ञ हैं कि आपने अपने शास्त्र का सार बतला कर हमें अनुगृहीत किया है। सभ्यवृन्द! विस्तार से पदार्थ गणना का जिन्हें श्रेय प्राप्त है और जिनके युक्ति सङ्गत पदार्थ विभाग का धर्म शास्त्रों तथा प्राचीन ग्रन्थों ने आश्रय लिया है। वे हम सब के पूज्य महर्षि

कपिलदेव भी आज हमारे मध्य वर्तमान हैं, अब आप उनके वचनामृत का पान कीजिये। मैं महर्षि जी से प्रार्थना करूँगा कि वे अपना भाषण आरम्भ कर अनुगृहीत करें।

म० क० दे०—उपस्थित सभ्यगण! आपने महर्षियों तथा महापुरुषों के प्रवचन सुने हैं। मन्त्रीजी की प्रेरणा के अनुसार हम भी अपने विचार प्रकट करने से पहिले प्रस्तुत विषय में अपनी सम्मति प्रकट कर देना उचित समझते हैं।

और वह यह है कि अन्य ऋषियों की भांति हम भी जीव का परिमाण अणु ही मानते हैं।

वि. बो.—भगवन्! आपके शास्त्र में तो आत्मा को विभु माना गया है, आप उसे अणु कैसे कह रहे हैं। देखिये आपने पहिले ही अध्याय में लिखा है "निष्क्रियस्य तदसम्भवात्" अर्थात् व्यापक होने से आत्मा में क्रिया नहीं है, अतः उसकी विशेष गति नहीं हो सकती।

म. क. दे.—महात्मन्! ऐसी बात नहीं। यह सूत्र जिस प्रकरण का है उसमें और ही विषय है। हम वह सारा ही प्रकरण आपके परिचय के लिये उद्धृत किये देते हैं—

ऊपर से शून्यवादी के मत पर विचार चला आ रहा है। हमने उसके मत पर दो आक्षेप किये थे। एक यह कि आपकी शून्यता पुरुषार्थ नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्येक पुरुष सुखादि को आत्मनिष्ठ समझ कर ही पुरुषार्थ मानता है, और सब शून्य होने से न आपके मत में कोई आत्मा है और न सुख। और दूसरा यह कि सांवृतिक (व्यवहार) दशा में भी आप के मत में सब ही विज्ञान क्षणिक हैं स्थिर आत्मा कोई है नहीं, तो पुरुषार्थ प्राप्तिकी अभिलाषा कौन किस के लिये करेगा? और किसी एक ने अभिलाषा की भी तो क्षणिक होने के कारण दूसरे क्षणमें उसके समाप्त होते ही यह अभिलाषा भी समाप्त हो जावेगी।

इसके उत्तर में क्षणिकवादी की ओर से हमने यह प्रश्न उठाया कि—यद्यपि हम व्यवहार दशा में विज्ञान को क्षणिक मानते हैं—परन्तु वह विज्ञान धारा एक स्थिर आत्मा का ही रूप धारण करलेती है। क्योंकि पूर्व विज्ञान की सबही वासनाएं उत्तर विज्ञान में संक्रान्त होजाती हैं। और इसीलिये उसकी पुरुषार्थ प्राप्ति की अभिलाषा भी उसके साथ ही समाप्त नहीं होजाती, वह भी उत्तर विज्ञान में संक्रान्त होजाती है। इस प्रकार जब तक मोक्षलाभ होगा तब तक यह अभिलाषा उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रान्त होती ही चली जावेगी। "शून्य में पर्यवसान पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता", यह बात भी ठीक नहीं। विज्ञान के शून्य रूप में लीन होजाने पर सब दुःखों का अभाव होजावेगा, और सर्व दुःखाभाव से बढ़कर और क्या पुरुषार्थ हो सकता है। इसके उत्तरमें लिखा है—

न गतिविशेषात्। सां० १।४८।

आप पूर्व विज्ञान-वासना की उत्तर विज्ञान में संक्रान्ति कह रहे हैं। परन्तु वह हो नहीं सकती, क्योंकि, वासना में एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान में जाने के लिये विशेष गति चाहिये—और—

निष्क्रियस्य तदसम्भवात्। ४६

निष्क्रिय वासना में गति असम्भव है। क्योंकि आपके मतानुसार उसका विज्ञान से अभेद है। और विज्ञान वहां ही समाप्त होजाता है।

और यदि उसका विज्ञान के साथ अभेद न मानकर उसे विज्ञान से भिन्न तथा गतिमान मानो तो—

मूर्तत्वाद्घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः । ५० ।

इसे क्रियावान्, घट आदि वस्तुओं की तरह मूर्त द्रव्य मानना पड़ जावेगा । और आप विज्ञान से भिन्न और कोई वस्तु मानते नहीं अत: आप के सिद्धान्त की हानि होगी ।

क्या आप यह कहना चाहते है कि अमूर्त में क्रिया नहीं हो सकती ? हम कहेंगे कि यह बात ठीक नहीं । क्योंकि आप भी तो अपने अमूर्त ईश्वर में क्रिया मानते हैं—देखिये आपके वेदों में ही इसे स्वीकार किया है—"तद्धावतोऽन्यानत्येति" (वह दौड़ते हुए औरों से आगे निकल जाता है)—पूर्व पक्षी के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए हमने लिखा है—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् । ५१ ।

ईश्वर में भी गति का श्रवण वास्तविक नहीं, उपाधि की गति के कारण है, जैसे कि आकाश में । चलता घट है परन्तु घटाकाश भी चलता प्रतीत होता है । इसी प्रकार दौड़ता मनुष्य है और उसके अन्दर प्रविष्ट ईश्वर दौड़ता प्रतीत होता है । अत: ईश्वर में गति नहीं ।

वि० बो०—भगवन् ! आपतो ईश्वर को मानते नहीं, फिर आपने ईश्वर को मानकर माध्यमिक का यह समाधान कैसे किया । आप सीधे कह सकते थे कि ईश्वर है नहीं ।

म० क० दे०—महात्मन् ! कोई भी वेदानुयायी अथवा तार्किक भी ईश्वर की सत्ता का निषेध कैसे कर सकता है । सारे वेद ही ईश्वर के गुणगान से भरे हुए हैं । किसीने हमारे शास्त्र के भाव को न समझ कर ऐसा कह दिया होगा ।

वि० बो०—भगवन् ! आपने तो स्पष्ट लिखा है—

ईश्वरासिद्धेः । सां० १–९२ ।

(ईश्वर की सिद्धि नहीं होती) ।

म०क०दे०—महात्मन् ! यह भी आप प्रकरण की सङ्गति को न देखकर समझ रहे हैं । इस सूत्र के व्याख्यान के लिये हम वह प्रकरण भी उद्धृत किये देते हैं—

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का प्रकरण चला हुआ है । लक्षण में दिये गये अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों का उद्धार किया जा रहा है । एक दोष यह भी दिया गया है कि यह लक्षण ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष में अव्याप्त है क्योंकि उसके साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सम्भव नहीं । इसके उत्तर में लिखा है—

ईश्वरासिद्धेः । सां०१–९२

ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती । अत: वह प्रत्यक्ष के लक्षण का लक्ष्य ही नहीं है फिर अव्याप्ति कैसी ।

जिसका विवेकसाक्षात्कार से प्रत्यक्ष होता है वह चेतन शक्ति दो प्रकार की है, मुक्त और बद्ध, और—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः । ९३ ।

ईश्वर मुक्त और बद्ध इन दोनों चेतनों में से एक भी नहीं वह स्वतन्त्र ही पृथक् आत्मा है, अत: उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती ।

यदि ऐसा माना जावे कि ईश्वर बद्ध अथवा मुक्त आत्मा में से कोई एक होगा तो—

"उभयथाप्यसत्करत्वम्" ६४

ये दोनों ही चेतन अल्पज्ञ हैं इन में से किसी का भी रूप उसे मान लिया गया तो वह भी अल्पज्ञ मानना पड़ेगा और ऐसी अवस्था में उसमें "असत्करत्व"दोष आ जावेगा अर्थात् वह इस सत् रूप जगत का कर्ता न हो सकेगा।

जीव-चैतन्य को भी तो उपनिषदों में कई स्थानों में विशाल ज्ञान का धनी कहा गया है। इसके उत्तर में कहते हैं—

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा" ६५

उपनिषदों में विशाल ज्ञान के धनी कहकर उन्हीं जीवों की प्रशंसा की गई है जो भगवान् के ज्ञान की सहायता से मुक्त हो गये हैं, अथवा ज्ञान के भण्डार भगवान् की उपासना से उसके समीप पहुँच कर उसके ज्ञान से मालामाल हो सिद्ध होगये हैं।

तात्पर्य स्पष्ट है कि जिसकी कृपा से इन्हें ज्ञान मिला है इस 'सन्' संसार का रचयिता वह ही होसकता है, इनमें वह शक्ति नहीं।

यदि ईश्वर जगत् का कर्ता है तो वह भी जगत् की रचना के लिये संकल्प आदि करेगा और ऐसी अवस्था में उसमें भी संकल्प आदि रूप परिणाम मानने पड़ जावेंगे। इस के उत्तर में लिखते हैं—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"६६

ईश्वर में संकल्पाद रूप परिणाम नहीं होते, उसकी सन्निधि मात्र से ही प्रकृति में परिवर्तन हो जाते हैं जैसे कि चुम्बक की सन्निधि से लोहे में क्रिया आरम्भ हो जाती है। और इसी प्रकार—

"विशेषकार्येष्वपि जीवनाम्" ६७

जिस प्रकार समष्टि जगत् की रचना के लिये ईश्वर में किसी परिणाम की आवश्यकता नहीं, संसार के छोटे मोटे कार्य करने के समय जीव में भी किसी परिणाम की आवश्यकता नहीं। वह भी बुद्धि की पीठ के पीछे बैठा हुआ संन्निधि मात्र से ही सब कुछ करता रहता है।

वि० बो०—भगवन् ! आपने एक जगह तो जीव को ही सृष्टि का कर्ता मान लिया है जैसे कि—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता" अ० ३–५६

(वह सब कुछ जानने वाला और सब कुछ करने वाला है) और अब ईश्वर को जगत् का कर्ता बतला रहे हैं यह कैसी बात है ?

म०–क०–दे०—महात्मन् ! आपके ये विचार भी प्रकरण को न देखने के कारण बने हैं इस सूत्र के प्रकरण का भाव सुनिये—

प्रकृतिलीन पुरुष का उसके पुण्य कर्म समाप्त हो जाने पर जब प्रकृति से उत्थान होगा उसके उत्थान के लिये भी जगन्नियन्ता के यत्न की आवश्यकता है अथवा उपासना से सिद्ध अतएव विज्ञानवान् होने से वह स्वयं ही अपना उत्थान करेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—

"स हि सर्ववित् सर्वकर्ता अ० ३–५६

(अब तो वह अपने भूत भविष्यत् के विषय में सब कुछ जानता है और उसके अधिकार में जो कुछ है वह सब कुछ कर सकता है। अतः उसके उत्थान के लिये ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं।

यदि वह अपने आप में स्वतन्त्र और सर्वज्ञ हैं, तो एक प्रकार का ईश्वर ही हो गया, और प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि का आप निषेध कर आये हैं तो इस ईश्वर ने अपने सारे कार्य-कलाप का तथा अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष कैसे किया ? इसके उत्तर में लिखते हैं।

"ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा" अ० ३—५७

इस प्रकार के ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि परम पुरुष ईश्वर का प्रत्यक्ष जीव अपने साधनों से नहीं कर सकता परन्तु विज्ञान सम्पन्न होने पर आत्मा तथा अपने भविष्य का प्रत्यक्ष वह कर सकता है, इस प्रकृतिलय को ही पहिले उपासासिद्ध कह आये हैं।

वि०—बो०—भगवन् ? आपने एक स्थान पर कर्मफल का प्रदाता कर्म को ही कहा है। परन्तु ईश्वर को मानने वाले कर्मफल का प्रदाता ईश्वर को मानते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आप ईश्वर को नहीं मानते।

म०—क०—दे०—महात्मन् ! आप को यह प्रश्न भी प्रकरण पर ध्यान न देने से करना पड़ा है। प्रकरण पर ध्यान देते तो आप को वहाँ से ही उत्तर मिल जाता। इसे समझने के लिये भी उस प्रकरण का उल्लेख किये देते हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में ईश्वरस्तुतिरूप मङ्गल क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में लिखा गया है।

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति। सां० ५—१।

ईश्वर की स्तुति करना शिष्टाचार से सिद्ध है, फल प्राप्त होता है और श्रुति भी इसका अनु-मोदन करती है।

आपने ईश्वरस्तुतिरूप मङ्गल से फल की प्राप्ति कही है। परन्तु यह तो ठीक नहीं क्योंकि—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

यह ही वह सूत्र है जिसके आधार पर आपने प्रश्न किया है कि—"आप कर्म को ही फलदाता मानते हैं, ईश्वर को नहीं, अतः ईश्वर को नहीं मानते" आप के इस प्रश्न का समाधान प्रकरण के अनु-सार इस सूत्र का अर्थ सुन कर ही हो जावेगा। अर्थ यह है कि–ईश्वर को अपना अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी मान लेने मात्र से फल न मिलेगा। फल तो उसकी प्रेरणानुसार कर्म करने से मिलेगा।

फल यदि अपने कर्म के अनुसार ही मिलेगा तो ईश्वर से हमें तो कुछ लाभ न हुआ, तब क्या ईश्वर को उसके किसी उपकार के लिये अधिष्ठाता मानना पड़ता है, जैसे कि कई राजा अपने स्वार्थ के लिए लोगों पर अधिकार कर लेते हैं। इसके उत्तर में लिखते हैं—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्। ३

हम ईश्वर को अधिष्ठाता उसके किसी उपकार के लिये नहीं, अपने ही उपकार के लिये मानते हैं। जैसे कि लोक में कर्मपरायण लोग अपने भले के लिये बड़ों को अपना नेता मान लिया करते हैं। उनके गुणों का अनुशीलन कर हम उनसे अलभ्य लाभ उठाया करते हैं।

यदि ईश्वर अपने उपकार के लिये हमारा अधिष्ठाता बनता तो वह—

लौकिकेश्वरवदितरथा। ४ ॥

फिर तो संसारी ईश्वर की तरह ही स्वार्थी होता।

पारिभाषिको वा ॥५॥

अथवा वह नाम मात्र का ईश्वर रह जाता। क्योंकि—

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।६।

अपने उपकार के लिये राग का होना आवश्यक है, क्योंकि राग उपकारसिद्धि का नियत कारण है। और यदि ईश्वर में भी राग है तो—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः । ७॥

और यदि ईश्वर में भी राग का योग है तो इस हेतु से भी वह नित्यमुक्त अर्थात् ईश्वर सिद्ध नहीं होता। अर्थात् स्वार्थ और राग दोनों ही ईश्वरत्व के विरोधी गुण हैं।

यद्यपि आपकी शङ्का का समाधान तो इन पंक्तियों से ही भली भांति हो गया होगा। परन्तु आप के इस भ्रम को दूर करने के लिये कि "हम ईश्वर को नहीं मानते" ईश्वरसिद्धि के और भी सूत्र उद्धृत किये देते हैं। इसी प्रसङ्ग में आगे चल कर शंका उठाई गई है कि ईश्वर प्रकृति के सङ्ग से संसार को उत्पन्न करता है या सन्निधि मात्र से, इसके उत्तर में लिखा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः । ८

यदि वह प्रधान शक्ति के योग से संसार को उत्पन्न करता है तो ससङ्ग हो गया, असङ्ग न रहा।

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ।९

और यदि सत्ता मात्र से अर्थात् सन्निधि मात्र से संसार को उत्पन्न करता हैं तो सारे ही आत्मा ईश्वर हो जावेंगे, क्योंकि प्रकृति के पास सन्निधि तो सबकी ही समान है।

प्रमाणाभावान्नतत्सिद्धिः ।१०

सब जीवों के ईश्वर सिद्ध होने में कोई प्रमाण नहीं। तात्पर्य है कि प्रकृति के समीप होने से ही कोई ईश्वर अथवा जगत् का कर्ता नहीं हो जाता। जगत् का कर्ता बनने के लिये उसमें सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता आदि और भी धर्म होने चाहियें और ये धर्म जीव में हैं नहीं, अतः ईश्वर ही जगत् का कर्ता है जीव नहीं। जैसे कि लोहे के पास यद्यपि और भी बहुत लोहे रक्खे हुए हैं, परन्तु चुम्बक ही उसे अपनी ओर खींचता है और नहीं।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ।११

जीव में ईश्वरत्व की सिद्धि अनुमान से भी नहीं होती। क्योंकि अनुमान के लिये व्याप्ति नामक सम्बन्ध चाहिये और इस सम्बन्ध का ग्रहण होता है प्रत्यक्ष अथवा शब्द से। प्रत्यक्ष से तो जीव में सर्वज्ञत्व एवं ईश्वरत्व के विपरीत अल्पज्ञत्व सिद्ध है और शब्द प्रमाण कोई जीव को ईश्वर कहने वाला है नहीं। अतः प्रधान के कार्यों की रचना करने वाला ईश्वर ही है जीव नहीं, इस विषय को श्रुति भी प्रमाणित करती है इसके लिये लिखते हैं—

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।१२

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-

त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति"।

(एक) प्रकृति नामक वृक्ष के साथ, ज्ञान और कर्म की उड़ान लेने वाली दो शक्तियों का सम्बन्ध है। उनमें से एक तो अपनी कर्म उड़ान के अनुसार कर्मफल का भोग करती है और दूसरी ज्ञान की उड़ान के अनुसार प्रकाशित होती हुई प्रकृति में से उन कर्मफल भोग के पदार्थों को प्रकाशित करती है—प्रकट करती है। यह श्रुति भी प्रधान के कार्यों की ईश्वर से रचना सिद्ध कर रही है।

मैं समझता हूँ अब आप को निश्चय हो गया होगा कि हम अनीश्वरवादी नहीं हैं।

वि० बोध—भगवन्! आप ने वेद के नित्यत्व को सिद्ध करते हुए लिखा है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। सां० ५।४६

वेद पौरुषेय नहीं हैं। क्योंकि उसका कर्ता पुरुष है ही नहीं। इस प्रकार इस सूत्र में आप ने वेद के कर्ता भगवान् का निषेध किया है।

म० क० दे०—महात्मन्! यह प्रतीति भी आप को प्रकरण के भली-भांति स्वाध्याय न करने से ही हुई है। हम यह भी सारा ही प्रकरण आप के ज्ञान के लिये उद्धृत किये देते हैं। यह प्रकरण निम्न-सूत्र से आरम्भ होता है—

"न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः" सां० ५।४५।

श्रुति में वेदों को कार्य कहा गया है इसलिये वे नित्य नहीं हो सकते। श्रुति इस प्रकार है—

"तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त"।

इस ज्ञान रूपी तप को तपने वाले भगवान् से तीन प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न वेद उत्पन्न हुए।

तब क्या वेद पुरुष के बनाए हुए हैं?

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्"।

वेद पौरुषेय नहीं हैं क्योंकि उनका कर्ता कोई पुरुष नहीं है। परम ईश्वर भी नित्य होने के कारण इन्हें उत्पन्न नहीं करता, प्रकट करता है। जो श्रुति ऊपर दिखलाई गई उसमें भी "अजायन्त" पद का अर्थ उत्पन्न होना नहीं, प्रादुर्भाव होना ही है, क्योंकि "जनी" धातु का अर्थ प्रादुर्भाव ही है, उसी से यह शब्द बना है।

"न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्" सां० ५।४७

वेद मुक्त अथवा अमुक्त पुरुष अर्थात् जीव के कहे हुए नहीं हो सकते क्योंकि वे अल्पज्ञ होने से अयोग्य हैं अतः उनका वक्ता परम पुरुष ईश्वर ही है।

"नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादि वत्" सां० ५।४८

क्योंकि परम पुरुष रचित होने से अंकुरादि अनित्य हैं अतः वेद भी यदि उससे निर्मित हुए तो वे भी अनित्य ही होंगे, अतः वेद अपौरुषेय हैं और इसी लिए नित्य हैं। इसके उत्तर में कहते हैं "न" ईश्वर से रचित होने से भी वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वह ज्ञान परमपुरुष भगवान् की स्वभाव शक्ति होने से अनादि काल से उसके साथ है और अनन्त काल तक रहेगा। केवल सृष्टि के आरम्भ में भगवान् अपनी उस वतमान शक्ति को ही संसार के प्राणियों के कल्याण के लिये प्रकट किया करते हैं। अतः वेद ईश्वरोक्त भी हैं तथा नित्य भी।

अंकुरादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं—

"तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः" सां० ५।४९

यदि अंकुरादि का भी कर्तृत्व के साथ योग मानते हो तो प्रत्यक्षबाध होगा क्योंकि अंकुर की रचना करने वाला कोई पुरुष अंकुर के पास दिखाई नहीं देता।

"यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्" सां० ५।५०

कर्ता के दिखाई न देते हुए भी जो बुद्धि के द्वारा रचित सिद्ध हो जावे वह पौरुषेय ही होगा। यह नियमपूर्वक उत्पन्न, पालित और नष्ट होने वाली अंकुरादि सब सृष्टि बुद्धिपूर्वक ही माननी पड़ेगी, क्योंकि जड़-शक्ति की स्वतः रचना इस प्रकार नियम पूर्वक नहीं हो सकती, अतः बुद्धि पूर्वक कार्य करने वाला परम पुरुष भगवान् ही अंकुरादि सृष्टि का कर्ता है।

क्योंकि भगवान् की अपनी शक्ति ही वेद हैं अतः उनका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए उनके रचयिता किसी प्रामाणिक पुरुष के खोजने की आवश्यकता नहीं, इसी भाव का प्रकाश करने के लिए लिखते हैं:—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" सां० ५।५१

भगवान् की अपनी शक्ति का प्रकाश ही वेद हैं अतः वे नित्य हैं और नित्य होने से स्वतः प्रमाण हैं।

वि० बो०—भगवन्! यह तो मुझे निश्चय हो गया कि आप अनीश्वरवादी नहीं हैं और आपने शून्यवादी को जो उत्तर दिया, ठीक ही दिया। परन्तु आपके "न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य" (आत्मा की विशेष लोकादिक में गति भी मोक्ष नहीं कही जा सकती क्योंकि वह व्यापक होने से निष्क्रिय है) इस सूत्र में आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है और क्रियारहित व्यापक ही होता है अतः आपका अणुवाद कैसे सिद्ध हुआ?

म० क० दे०—महात्मन्! सूत्र का यह भाव नहीं जो कि आपने प्रकट किया है। आत्मा में लोकलोकान्तर अर्थात् निकृष्ट उत्कृष्ट योनियों में जाने के लिए क्रिया तभी तक होती रहती है जब तक कि विवेकसाक्षात्कार से अन्तः करण की भूमि को कर्मबीज के उगने के लिए ऊषर नहीं बना दिया जाता, कर्म बीज ही भोग के लिए अंकुरित होकर जीवात्मा को भोग के साधन सञ्चित करने के लिए विभिन्न योनियों में ले जाने का साधन बनता है, और जब वह अत्यन्त उत्कृष्ट कर्मफल भोग के लिए किसी अत्यन्त उत्कृष्ट योनि में जाता है यह ही उसकी विशेष गति कहलाती है, और इसी विशेष गति को ही मोक्ष नाम देने का सूत्र में "न विशेषगतिः" शब्द से निषेध किया गया है। और वह इसलिए कि जीव मोक्ष की अवस्था में पहुँच कर इस विशेष गति के योग्य ही नहीं रहता, क्योंकि विवेक साक्षात्कार हो जाने से उसके अन्तः करण की भूमि में कर्मबीज भोग रूपी अंकुर उत्पन्न ही नहीं कर सकता, अतः उसे उसके भोगने के लिए विशिष्ट योनि में जाने की आवश्यकता ही क्या रह जावेगी, और उसके लिए उसमें क्रिया होगी भी तो किसलिए? फलतः वह विशिष्ट योनि में जाने की दृष्टि से अब निष्क्रिय हो गया है अतः सूत्र में उसे जाने की आवश्यकता न होने से निष्क्रिय कहा गया है, विभु होने से नहीं। यह कहने से हमारे अणुवाद पर कोई आपत्ति नहीं आती।

वि० बो०—भगवन्! यह तो मैंने मान लिया कि आप आत्मा को विभु नहीं मानते परन्तु आपने

आप अणु मानते हैं यह कैसे माना जाय क्योंकि अणुत्व का साधक आपके शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है।

म० क० दे०—महात्मन्! साधक प्रमाण भी सुनिये—

"न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्" सां० १—१२

काल योग से भी बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि काल व्यापक और नित्य है और इसीलिए मुक्त तथा अमुक्त सब आत्माओं से उसका सम्बन्ध है यदि कालयोग से बन्ध माना गया तो मुक्त आत्मा भी बँध जावेंगे।

यहाँ सूत्रकार ने आत्माओं का व्यापक न होना स्पष्ट ध्वनित किया है। क्योंकि आत्मा व्यापक होते तो काल के साथ व्यापक विशेषण लगाने की आवश्यकता न थी "कालस्य सर्वसम्बन्धात्" (काल का सब आत्माओं के साथ सम्बन्ध है इतना कहने से काम चल सकता था क्योंकि सब आत्मा व्यापक थे ही, काल के एक देश में होने पर भी उनका उसके साथ सम्बन्ध हो सकता था, यह विशेषण देने की तब ही आवश्यकता पड़ी जब यह मान लिया गया कि आत्मा अणु हैं, ऐसी अवस्था में कोई मुक्त आत्मा कहीं होगा, कोई कहीं, और अमुक्त आत्मा भी विभिन्न स्थानों में कर्म फल भोग रहे होंगे, उन सब के साथ ही काल का सम्बन्ध कराने के लिये उसमें "व्यापिनः" विशेषण देने की आवश्यकता पड़ी। निष्प्रयोजन विशेषण देकर सूत्रकार कभी भी ग्रन्थ का कलेवर नहीं बढ़ाया करते, विशेषण वहाँ ही दिया जाता है जहाँ उसका कोई विशेष प्रयोजन हो, यहाँ मुक्त अमुक्त सब आत्माओं के साथ काल का सम्बन्ध कराना "व्यापिनः" पद का प्रयोजन है। अतः काल व्यापक और आत्मा अणु हैं। महात्मन्! अब आप समझ गये होंगे कि सांख्य शास्त्र में आत्मा को विभु नहीं, अणु माना गया है। अब विषय सर्वथा स्पष्ट हो गया है अतः हम अपने भाषण को यहीं समाप्त करते हैं।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षिवर्य! आपके सारगर्भित प्रवचन का जनता के हृदयों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है, आपकी इस कृपा के लिए हम कृतज्ञ हैं। अब मैं जनता को यह शुभ संदेश सुना देना चाहता हूँ कि सिद्धान्त और आचरण दोनों ही दृष्टियों से भगवत् प्राप्ति के परम साधन योग के महा विद्वान्, पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि अपनी अमृत वर्षा से आपको कृतकृत्य करने के लिए पधार रहे हैं।

म० प०—महात्मन्! हमारे शास्त्र का सब विषय व्यवहार से सम्बन्ध रखता है उसका एक एक अक्षर अन्तःकरण के पटल पर लिखा जाकर जब तक आचार में परिणत नहीं होता तब तक उसके बोलने और सुनने का कोई लाभ नहीं। इतना मात्र लाभ हो सकता है कि कदाचित् सुनते सुनते उसके आचार में भी लाने का अवसर आ जावे। और सिद्धान्त की दृष्टि से जो कुछ कहा जा सकता है वह सब भ्राता कपिलदेव जी ने कह ही दिया है। पदार्थों की गणना करना तथा उनके गुण कर्म स्वभाव का निरूपण करना काम भी उनके शास्त्र का ही है। हमारा काम केवल योग की प्रक्रिया बतलाना है। पदार्थों की संख्या तथा उनके गुण-कर्म स्वभाव आदि के मन्तव्य की दृष्टि से हम और वे एक मत हैं, इसीलिए हमारा तन्त्र समान है। अतः उसी विषय का फिर से पिष्टपेषण न करते हुए हम उनके प्रतिपादित किये हुए जीवाणुवाद का समर्थन कर अपने वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षिवर्य! इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपका शास्त्र मूक भाषा में ही सुनने और सुनाने योग्य है। इसके सिद्धान्त वक्तव्य की नहीं, कर्तव्य की चीज़ हैं। आपके इस पवित्र विचार ने जनता को आचार के क्षेत्र की ओर जाने संदेश दिया। हम आपके कृतज्ञ हैं। सभासद्गण

आप लोग जगत् प्रसिद्ध महर्षि दयानन्द को भली-भांति जानते हैं। आपने देश सुधार की प्रत्येक समस्या का सुझाव देते हुए जाति पर महान् उपकार किया है। इस प्रकृतिवाद की भयङ्कर आँधी के समय पाश्चात्य विज्ञान की एवं भोगवाद की, चकाचौंध में ग्रस्त होते हुए संसार के बीच में खड़े होकर, लुप्त होते हुए वेद के पवित्र ज्ञान का संदेश लोगों को सुना, भारत के ही नहीं, सारे संसार के उद्धार का बीज बोकर आपने एक महान् उपकार के कार्य का उपक्रम किया है। और स्वयं अपना कोई दर्शन न लिख अन्य महर्षियों के ही दार्शनिक विचारों का अनुमोदन करते हुए दर्शनों के विभिन्न विषयों पर विशेष प्रकाश भी डाला है। लोगों के इस कथन का कि दार्शनिकों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अस्वीकार करते हुए इस विचार के विरोध में पहलेपहल आपने ही लेखनी उठाई है। आपने स्पष्ट कह दिया है कि ये सब एक ही लक्ष्य पर पहुँचाने के लिए महर्षियों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। मार्गों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी लक्ष्य का एक होना सर्वथा सम्भव है। और कई स्थानों पर तो भाष्यकारों ने ही सूत्रकारों के मत को अन्यथा प्रकट कर इस मार्ग के भेद को और भी अधिक बढ़ा ही नहीं दिया, वस्तु के स्वरूप को भी बिगाड़ दिया है। अत: अब मैं इस नवयुग के निर्माता पूज्य महर्षि जी से निवेदन करूँगा कि वे भी अपने विचारों से हम लोगों को अनुगृहीत कर कृतार्थ करें, मैं आशा करता हूं कि आप सब इनके भाषण को ध्यान पूर्वक सुनेंगे।

म० द०—महात्मन्! मैं आपका धन्यवाद करता हूँ कि आपने मेरे हार्दिक विचारों को जान मेरे विषय में कुछ शब्द कहे हैं। श्रीमान् जी! मेरा अपना कोई मत नहीं, मैं उसी सिद्धान्त का मानने वाला हूँ, जिसका कि वेद ने प्रतिपादन किया है, और जिसे ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त पूज्य महर्षि मानते चले आये हैं, अत: मेरे भाषण में उन्हीं के प्रकट किये हुए विचारों का अनुमोदन मात्र होगा। आज के प्रस्तुत विषय को मैंने सर्व साधारण के ज्ञान के लिए सत्यार्थ प्रकाश में आर्य भाषा में ही स्पष्ट प्रकट कर दिया है। सब महर्षियों के प्रवचन हो चुके हैं और सब ही जीवात्मा के अणु परिमाण को एकमत होकर स्वीकार कर चुके हैं और उनके अनुसार ही मैंने भी सत्यार्थ प्रकाश में जीव परिमाण "परिच्छिन्न" ही लिखा है।

वि० बो०—भगवन्! आपके इस परिच्छिन्न कथन से भ्रम हो सकता है क्योंकि परिच्छिन्न मध्यम परिमाण भी है और अणु भी।

म० द०—महात्मन्! इस लेख में भ्रम की कोई सम्भावना नहीं क्योंकि अन्यत्र जैनमत विवेचन के प्रकरण में मध्यम परिमाण का प्रतिवाद किया गया है। भला जिसका प्रतिवाद किया हो, वह ही मत ग्रन्थकार को कैसे स्वीकृत हो सकता है? फलत: हमारा मत वह ही है जोकि अन्य महर्षियों का, अर्थात् अणु परिमाण। बस इस विषय पर और कुछ न कह कर अपते इस छोटे से कथन को हम यहां ही समाप्त करते हैं।

महर्षि दयानन्द का भाषण समाप्त ही हुआ था कि प्रधान द्वार की ओर से एक विशाल ज्योति के दर्शन हुए। महर्षि अभी वेदी पर ही बैठे हुए थे, उनका मुख प्रधान द्वार की ओर ही था, दृष्टिपात करते ही उन्होंने देखा कि उस प्रकाश के पुञ्ज में चार नवयुवक महर्षि आगे बढ़े चले आ रहे हैं, यह ज्योति उन्हीं के ब्रह्मतेज की चमक थी। ऋषि दयानन्द के मुख से सहसा ही प्रसन्नता के साथ ये शब्द निकले—अहो भाग्य! अहो भाग्य!! अहो भाग्य!!! सृष्टि के आरम्भ में भगवान् की कृपा के प्रथम

पात्र, वेद-विज्ञान के आदि विद्वान्, अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा पूज्य महर्षि !!!

यह सुनते ही भगवान् व्यासदेव जी का भी ध्यान उधर ही चला गया और उन्होंने हर्ष ध्वनि के साथ विजय घोष करते हुए इस कथन का अनुमोदन किया। सब लोग तत्काल ही खड़े हो गये। भगवान् व्यासदेव जी ने उनका अभिनन्दन करते हुए यथाविधि पाद्य, अर्घ्य आदि से सत्कार किया और उस सजी हुई वेदी पर ही उन्हें आसन दिया गया। आगन्तुक महर्षियों की आज्ञा पाकर सब लोग अपने अपने स्थान पर बैठ गये। महर्षि व्यासदेव ने महात्मा आत्मबोध की ओर देखा, और वे उनकी इस दृष्टि को आज्ञा समझ तत्काल ही खड़े हो गये।

आ० बो०—सम्मान के योग्य महर्षिगण! तथा उपस्थित सभ्य पुरुषो! हम लोगों के अहोभाग्य हैं कि वेद विज्ञान की पवित्र गङ्गा का आदि स्रोत जिन महापुरुषों से चलकर परम्परा से हम लोगों तक पहुँचा है, वे ही करुणा कर आज हम अकिञ्चनों की कुटियाओं को अलंकृत करने के लिये पधारे हैं। मैं आप सब के हृदयों का भाव समझ रहा हूँ, कि जिस विषय पर आप सब विचार कर रहे थे, और उस विचार धारा से आपने जो निर्णय किया है, उसकी आप साक्षात् वेद भगवान् के शब्दों से पुष्टि कराने की अभिलाषा कर रहे हैं। भद्रपुरुषो! महर्षियों के प्रसन्न मुख कमलों से मैं अनुभव कर रहा हूँ कि वे आपकी इच्छा को पूर्ण करेंगे।

म० अग्नि—सभ्य पुरुषो! महात्मा आत्मबोध ने जो आप सब की कामना को एक प्रतिनिधि के अधिकार से प्रकट किया है, उसका हम स्वागत करते हैं, और आपके प्रस्तुत विषय पर अपने अपने वेद की अनुमति प्रकाशित कर उसे प्रमाणित करना आरम्भ करते हैं। क्योंकि हमने जान लिया है कि आपने जीवात्मा का परिमाण अणु निर्णय किया है, और यह ही वेद का मत है। अधिक व्याख्यान न कर हम इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले वेद-मन्त्र और उनका भाव ही सुनाएंगे।

"अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय। मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः"। ऋ० १।१०५।७

(ते-श्रत्) हे भगवन्! मेरे हृदय में आपके लिए श्रद्धा है (अधा मन्ये) मैं निश्चय मानता हूँ कि (पुरुहूत) हे बड़ों बड़ों से स्तुत (क्षुध्यद्भ्यः) कर्मफल भोग के भूखों को आप (वयः) आयु और (आसुतिम्) जन्म (दाः) देते हैं (अस्मा) मुझे (अकृते-योनौ) मेरे कर्म द्वारा तैयार न की हुई योनि में (मा-अधायि) स्थापित नहीं करोगे, अतः (वृषा) हे आनन्दवर्षक भगवन्! (महते धनाय) महत्वपूर्ण अर्थात् आनन्द रूप धन के लिए (चोदस्व) ले चल तात्पर्य यह है कि भगवन्, मुझे मेरे कर्म द्वारा बनी हुई आनन्द प्राप्ति की साधन योनि में पहुँचा दो। इस मन्त्र में मृत्यु के समय इस शरीर से किसी दूसरे अज्ञात शरीर में जाते समय जीव ने भगवान् से प्रार्थना की है, व्यापक आत्मा का इस शरीर से निकलना, और दूसरे शरीर में जाना हो नहीं सकता और मध्यम परिमाण होता ही विनाशी है अतः इस वेद-मन्त्र में जीव का परिमाण अणु माना गया है।

"पूषा राजानमाघृणिरपगूढं गुहा हितम्। अविन्दत् चित्र बर्हिषम्"। ऋ० १।२३।१४

(आघृणिः) सब ओर से प्रकाशमय (पूषा) पालन करने वाला भगवान् (अपगूढम्) अपने आपको पाप से छिपा कर रखने वाले (गुहाहितम्) हृदय गुहा में स्थित (चित्रबर्हिषम्) विचित्र ज्ञान

की ओर बढ़ने वाले (राजानम्) अपने अध्यात्मवर्ग पर शासन करने वाले आत्मा को (अविन्दत्) मिलता है। इस मन्त्र में आत्मा का निवास हृदय की गुहा में माना है और इस गुहा में व्यापक आत्मा समा नहीं सकता, अतः जीव का परिमाण अणु ही है।

"हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियं धा हृदा यत्तष्टान् मन्त्रान् अशंसन्" (१।६७।२)

(विश्वानि) सम्पूर्ण (नृम्णा) मनुष्योपयोगी पदार्थ (हस्ते दधानः) अपने अधिकार में लिए हुए (गुहा निषीदन्) हृदय की गुहा में निरन्तर रहता हुआ (देवान्-अमे-धात्) देवताओं को भय में रखता है (धियन्धाः) बुद्धि के धारण करने वाले (नरः) विज्ञानी लोग उसे (अत्र) यहाँ हृदय में ही यद्यपि वह बाहर अन्दर सब जगह है, परन्तु जब हृदय में बैठे हुए आत्मा के पास हृदय में भी है तो उसे बाहर खोजने की आवश्यकता क्या है) (विदन्ति) प्राप्त करते हैं। और फिर प्राप्त करने के बाद (ईम्) इसके लिए (हृदयतष्टान्) हृदय से निकले हुए (मन्त्रान्-अशंसन्) मन्त्रों से स्तुति करते हैं।

मन्त्रों से स्तुति तो पहले भी किया करते थे परन्तु प्रभु के प्राप्त कर लेने पर आज वे मन्त्र हृदय की गम्भीर तह से मस्ती में रंगे हुए निकल रहे हैं।

इस मन्त्र में प्रभु को प्राप्त कर लेने के समय भी जीव का स्थान हृदय ही कहा गया है, और हृदय में रहता हुआ अपने उपास्य देव प्रभु की स्तुति कर रहा है। यदि उपाधि से अवच्छिन्न होकर (वस्तुतः सर्वव्यापक होता हुआ) आत्मा अणु और हृदय स्थित माना गया होता तो अब मुक्ति के समय उपाधि का भ्रम दूर हो अभेद हो जाने पर ब्रह्म से अभिन्न ही हो गया होता, फिर ऐसी अवस्था में उसका हृदय में रहना क्यों? और उपास्य तथा उपासक का भेद क्यों? इसलिए मुक्ति की अवस्था में भी जीव और ईश्वर भिन्न हैं, और जीव का परिमाण अणु है।

"अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः"। १।६७।३

(अजः) अजन्मा भगवान् (क्षां न) पृथिवी की तरह (पृथिवीम्) विस्तृत आकाश को (दाधार) धारण किए हुए हैं (सत्यैः) सत्यप्रधान (मन्त्रेभिः) मनन के आधार विश्वमानस की शक्तियों से (द्याम्) द्युलोक को (तस्तम्भ) संभाले हुए हैं (अग्ने) हे अग्रनेता भगवन्! (पश्वः) दर्शक जीवात्मा की (प्रिया-पदानि) प्यारे स्थान (गुहा) हृदय गुहा की (गुहम्) गुहा अर्थात् अन्तर हृदय में पहुँचे हुए हो, अतः (विश्वायुः) सब के जीवन होते हुए इस जीव की भी (निपाहि) रक्षा करें।

इस मन्त्र में भगवान् को हृदय की गुहा में रहने वाले जीव की अन्तर गुहा में प्रविष्ट होकर रक्षा करने वाला कहा गया है, और इसके साथ ही ईश्वर को "विश्वायु" कह कर सब का जीवन कहते हुए सर्वत्र व्यापक भी कहा गया है। अतः हृदय में ही रहने के कारण जीव का परिमाण अणु है।

म० वायु०—सभ्य पुरुषो! आपने महर्षि अग्निदेव के मुखारविन्द से ऋग्वेद का मनोहर प्रवचन सुना अब यजुर्वेद के वचनामृत का भी पान कीजिए—

"वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयः उस्रियासु हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ य० ४।३१

(वरुण:) वरने योग्य भगवान् ने (वनेषु) वन में अथवा सूर्य की किरणों में (अन्तरिक्षम्) आकाश अर्थात् अवकाश को (विततान) फैलाया (अर्वत्सु) घोड़ों में अथवा विद्युत् आदि में (वाजम्) वेग को (उस्रियासु) धेनुओं में (पय:) दूध को (हृत्सु) हृदयों में (क्रतुम्) कर्मकर्त्ता जीव को (ओ३म् क्रतो स्मर य० ४०।१५ हे क्रतो ! कर्मकर्ता जीव याद कर' इस मन्त्र भाग में जीव को क्रतु कहा गया है) (विक्षु) प्रजाओं में (अग्निम्) अग्नि तत्व को (दिवि सूर्यम्) द्युलोक में सूर्य को और (अद्रौ सोमम्) पर्वत में सोम को (अदधात्) स्थापित किया है।

इस मन्त्र में भगवान् ने आत्मा की स्थापना हृदय में की है, और व्यापक आत्मा हृदय जैसे छोटे स्थान में समा नहीं सकता, अत: आत्मा का परिमाण अणु है।

अप्स्वग्ने सधिष्टवसौषधीरनुरुध्यसे। गर्भे सन् जायसे पुनः॥ य० १२।३६

(अग्ने) हे ज्ञानवान् जीव ! शरीर से निकलने के बाद (तव-सधि:) तेरा सहस्थान (अप्सु) जल से भरे हुए आकाश के वायुमण्डल में हुआ, फिर (स औषधी:) वह तू औषधियों का (अनुरुध्यसे) अनुरोध करता है अर्थात् उनके साथ रहता है (पुन:) और फिर (गर्भे सन्) गर्भ में रहता हुआ (जायसे) उत्पन्न होता है।

इस मन्त्र में आत्मा का वायु आदि विभिन्न स्थानों में घूमते हुए गर्भ में आकर ठहरना, और फिर वहां से बाहर आना कहा गया है, व्यापक आत्मा का विभिन्न स्थानों में घूमते हुए गर्भ में आना और गर्भ से बाहर आना संभव नहीं, व्यापक में न क्रिया हो सकती है, न वह आ जा सकता है, और न गर्भ जैसे छोटे स्थान में समा सकता है अत: आत्मा का परिमाण अणु है।

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥
य० ४०।३

(असुर्या:) असुरों को प्राप्त होने वाली (नाम) प्रसिद्ध (ते-लोका:) वे योनियाँ हैं जोकि (अन्धेन) अन्धकारमय (तमसा) अविद्या से (आवृता:) आच्छादित हैं (ते) वे (प्रेत्य) यहाँ से जाकर (तान्) उन योनियों में (अपि गच्छन्ति) प्रविष्ट होते हैं (ये-के-च) कि जो (आत्महन:) आत्मघाती— आत्मा के विरुद्ध चलने वाले (जना:) लोग हैं।

इस मन्त्र में जीव का इस शरीर से निकलकर जाना और फिर किसी दूसरी योनि में आना कहा गया है। निकलना, जाना, तथा आना, व्यापक आत्मा के लिए सम्भव नहीं अत: आत्मा का परिमाण अणु है।

वि० बो०—भगवन् ! आपके वेद में:—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् योऽसावादित्ये पुरुष: सोसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" य० ४०। १७ यह मंत्र आया है,

इसका भाव यह है कि चमकीले पात्र से अर्थात् मन-मोहक प्रकृति से सत्य का अर्थात् भगवान् का "मुख" अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है। जो आदित्य में पुरुष है वह ही "अहम्" अर्थात् मेरा आत्मा है। वह आदित्य पुरुष ओ३म् "खम्" आकाश की तरह व्यापक और अतएव ब्रह्म है।

इस मन्त्र में आदित्य पुरुष ब्रह्म का और आत्मा का अभेद कहा गया है इसलिए परमार्थ अवस्था में जीव व्यापक ही हो जाता है और उसका परिमाण विभु है। अन्यत्र जो उसको अणु कहा गया है वह कथन बुद्धि उपाधि के कारण सङ्गत हो सकता है। आपका इस विषय में क्या विचार है?

म० वा०—महात्मन्! मत प्रकट करने की आवश्यकता तो तब हुआ करती है जब मन्त्र में दो प्रकार के भावों की झलक हो। यहाँ तो मन्त्रार्थ करने से स्पष्ट ही विशुद्ध ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जीवात्मा का बोधक इसमें कोई वाक्य है ही नहीं। परमात्मा स्वयं कह रहे हैं—

प्रकृति की चमक दमक से मुझे सत्यरूप का मुख अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है अतः तुम मुझे देख नहीं सकते, मैं वह ही हूँ, जो कि आदित्य में निवास करता हुआ आकाश की तरह से ब्रह्म अर्थात् व्यापक हूँ, और मेरा नाम ओ३म् है, इस भावार्थ को देखकर आप समझ सकेंगे कि इस मन्त्र में जीवात्मा का कहीं भी उल्लेख नहीं है जिससे कि अभेद सिद्ध हो सकता हो।

वि० बो०—भगवन्, इसके अतिरिक्त आपके वेद में और भी मन्त्र जीव ब्रह्म का अभेद प्रकट करते हैं देखिए

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते" य. ४०।६

जो सब भूतों को अपनी आत्मा में देखता है और सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है उस दर्शन के बाद वह निन्दा का पात्र नहीं बनता। इसी प्रकार:—

"यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" य. ४०।७

जिस ज्ञानी के अन्दर सब भूत आत्मा ही हो गये हैं उस एकता को देखने वाले के लिए मोह और शोक क्या चीज़ रह गई।

म० वा०—महात्मन्! ये मन्त्र चालीसवें अध्याय के हैं। भगवान् ने पहले सात मन्त्रों में कर्म-वाद का वर्णन कर इन तीन मन्त्रों में समाजवाद का उत्कृष्ट रूप दिखलाया है। एक सामाजिक पुरुष समाज के साथ अपने सम्बन्ध को जिन के आधार पर अटूट बना सकता है, उन नियमों का इन मन्त्रों में रहस्यपूर्ण वर्णन किया गया है, पहले मन्त्र में एक आत्मा दूसरे आत्मा को अपने अन्दर और अपने आपको दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हुआ पाता है, एक दूसरे के सुख तथा दुःख का अनुभव कर उसे अपना समझते हुए उसके दूर करने की भावना जितनी शीघ्र आत्मा में निकट होते हुए जगाई जा सकती है इतनी दूर होते हुए नहीं, अतः जो मनुष्य जिससे संगठित होना चाहता है वह उसे प्रतिक्षण अपने अन्दर देखे, इस सामाजिक व्यवहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है।

अभी भी इस व्यवहार को आरम्भिक अतएव अधूरा समझ, भगवान् इसे पूर्ण करने के लिए दूसरे मन्त्र में दूसरे नियम का उपदेश करते हैं, पहले मन्त्र के अनुसार सामाजिक पुरुष एक दूसरे के आत्मा को अपने अन्दर देखते थे यद्यपि वे निकट पहुँच गये थे, परन्तु फिर भी उनमें से एक दूसरा एक दूसरे को पृथक् ही प्रतीत होता था, अतः इस मन्त्र में उस भावना को एक दूसरे को अपना रूप देखने का उपदेश कर और भी ऊँची उठा दिया गया है, इस भावना के अनुसार अब एक दूसरा एक एक दूसरे को अपना रूप ही देखता है। अब तो यह दूसरे के दुःख को दूसरे का न समझ साक्षात् अपना ही समझेगा, और उसे दूर करने के लिए तत्काल ही प्रयत्न आरम्भ कर देगा यह भावना समाज के सब नियमों की प्रकृष्ट आधार शिला है। हृदय में इसका जन्म हुए बिना सब नियम अधूरे हैं। वे सब मिलकर भी इसके बिना समाज के व्यक्तिभेद को एक रूप नहीं दे सकते, और जब तक यह एकता

सिद्ध न हो उन व्यक्तियों का एक नाम समाज रक्खा जाना ही असम्भव है। अतः वेद ने इन मन्त्रों में मानव जगत् को प्रेम के बन्धन में बांधने के लिये, तथा उसके इस लोक को सुखमय बनाने के लिए इस भव्य भावना का उपदेश दिया है। मनुष्य जिस स्थिति में होता है अपने भगवान् को भी वह उसी रूप में याद करता है, अतएव पहले मन्त्रों में कर्म का उपदेश देने के बाद जीव ने अपने उपास्य देव भगवान् को अपनी स्थिति के अनुसार ही याद किया है, कर्म करता हुआ वह कभी दौड़ता था और कभी ठहर जाता था, अतएव उसने अपने भगवान् के लिए भी वैसी ही स्तुति करनी आरम्भ कर दी। "तदेजति तन्नैजति" वह गति कर रहा है और नहीं, "तद्दूरे तद्वन्तिके" वह दूर चला गया और अब पास है) "यद्यपि भाव और है परन्तु स्तुति का बाह्य रूप उसकी कर्म भावना का ही प्रतीक है"।

परन्तु अब जब वह एक सामाजिक प्राणी है, और पृथक् न रह किसी समाज का अङ्ग बन उसके साथ मिलकर एक बन गया है, तो अब भी अपने भगवान् को अपनी स्थिति के अनुसार ही याद करता है, वह कहता है—"स पर्यगात्" (वह सब ओर फैला हुआ है—सब के अन्दर फैला हुआ है) अब उसका भगवान् उससे दूर खड़ा चल नहीं रहा, उसके अन्दर पहुँच गया है, और फिर इसी काल में औरों के अन्दर भी फैला हुआ सूत्र बन इसे औरों के साथ मिलाकर एक कर रहा है। इस प्रकार इन मन्त्रों में उत्कृष्ट सामाजिक नियमों का वर्णन कर इस लोक की कर्म द्वारा प्राप्त की हुई सम्पत्ति को सुखमय बनाने का उपाय बतलाया गया है—

यदि इन मन्त्रों में अभेद सम्पत्ति का वर्णन कर कर्म की समाप्ति कर दी होती तो आगे चलकर परलोक फल अमृत प्राप्ति के लिए

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँसह"

(विज्ञान और कर्म को जो एक साथ जानता है) इस ज्ञान कर्म समुच्चय के विधान की आवश्यकता ही क्या थी ? अतः यह आत्मा और ब्रह्म के अभेद का वर्णन नहीं और इसीलिए आत्मा के व्यापकत्व की सिद्धि नहीं कर रहा।

म० आदित्य—सभ्य पुरुषो, आपने महर्षि वायुदेव का प्रवचन सुन लिया है। कितना भावपूर्ण और गम्भीर भाषण था। अब आप भगवान् सामवेद का भी उपदेश सुनिये। और वेदों की तरह सामवेद भी जीव का परिमाण अणु ही मानता है। मन्त्र सुनिये—

वृषामतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणा सिन्धूनां कलशामचिक्रददिन्द्रस्यहार्द्याविशन्मनीषिभिः। मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परिकोषामसिस्यदत्। त्रितस्य नाम जनयन् मधुक्षरन्निन्द्रस्य वायु सख्याय वर्द्धयन्॥ अयम्पुनान उषसो अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदुलोककृत्। अयं त्रिःसप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः। (साम० उ० अ० प्र० २ अ० प्र० १ म० १७)

(मतीनाम्) बुद्धियों का (वृषा) सींचने वाला (विचक्षणः) विशिष्ट द्रष्टा (सोमः) अमृत का सवन करने वाला (अह्नाम्) जीवन दिनों की (उषसाम्) उषाओं का (दिवः) प्रकाशित करने वाला भगवान् (पवते) पवित्र कर रहा है। (प्राणा) प्राण, (सिन्धूनाम्) प्राणवहा नाड़ी रूप नदियों की (कलशाम्) ध्वनित होने वाली शक्ति को (कलं- शवतीति "अन्येभ्योऽपिदृश्यते" पा. इति डः (अचिक्रदत्) ध्वनित कर चुके हैं, अर्थात् अनाहत नाद को प्रकट कर चुके हैं। और अब

(मनीषिभिः) मन की शक्तियों पर अधिकार करने वाले गुरुओं के द्वारा, अर्थात् उनकी सहायता से (हार्दि) हृदय में (आविशन्) प्रवेश कर रहे हैं। अर्थात् अपना काम पूरा कर घर में आ गये हैं (पूर्व्यः-कवि) प्राचीन कवि—वेदों का वक्ता भगवान् (मनीषिभिः) मनोंपर अधिकार करने वाले (नृभिः) मनुष्यों, गुरुओं के द्वारा (पवते) पवित्र करता है। (यतः) जिससे कि (त्रितस्य) तीन गुणों में बँधे हुए (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम जनयन्) स्वरूप प्रकट करता हुआ (वायुम्) प्राण वायु को (इन्द्रस्य) आत्मा के (सख्याय) मित्रता के लिए (वर्धयन्) उन्नत करता हुआ (मधु चरन्) आनन्दरूप अमृत को टपकाता हुआ (परिकोशाम्) मनोमय कोश के सब ओर (असिष्यदत्) ज्ञानधारा को बहा रहा है। (पुनानः अयम्) पवित्र करते हुए इसने (उषसः) जीवन की उषा को (अरोचयत्) चमका दिया है। (अयम्) यह भगवान् (सिन्धुभ्यः) प्राणवहानाड़ी रूप नदियों के लिए (लोककृत्) प्रकाश को प्रकट करने वाला (अभवत् उ) हुआ है (चारुमत्सरः) मनोहर हर्ष को प्राप्त कराने वाला (अयम्-सोमः) यह अमृत का सेवन करने वाला भगवान् (त्रिसप्त) दश इन्द्रियें, दश प्राण और मन इन इक्कीस को (दुदुहानः) दुहता हुआ इनसे सत्व गुण रूपी मक्खन निकालता हुआ (हृदे) हृदय में वर्तमान (आशिरम्) ज्ञानरूप भोजन करने वाले आत्मा को [अशेर्णिद्वेति किरच्] (पवते) पवित्र कर रहा है।

इस मन्त्र में आत्मा का निवास हृदय में बतलाया है और हृदय जैसे छोटे स्थान में व्यापक आत्मा का समाना असम्भव है अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

म० अंगिरा—सभ्य पुरुषो, आप संगीत के मनोहर स्वरों में महर्षि आदित्य का प्रवचन सुन चुके हैं। अब हम भी भगवान् के शब्दों में कुछ विचारधाराएँ आपके सामने उपस्थित करते हैं, सुनिए।

"अनच्छये तुरगातुजीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्। जीवोमृतस्य चरति स्वधाभिर-मर्त्योमर्त्येना सयोनिः ॥ अ० ६।१०।१८

(ध्रुवम्) निश्चिल होता हुआ (तुरगातु) वेग वालों की तरह सर्वत्र पहुँचा हुआ (पस्त्यानाम्) जीवों के घरों—अर्थात् शरीरों के (मध्ये) बीच में (जीवम्) जीव को (अनत्) प्राणित करता हुआ (आशये) सर्वत्र सो रहा है—अर्थात् व्यापक होकर वर्तमान है (मर्त्येना) मरणधर्मा शरीर के (सयोनिः) साथ रहने वाला (मृतस्य) मरे हुए पुरुष का (जीवः) जीव (स्वधाभिः) अपने कर्म-फलों के अनुसार (एजत्) प्रभु से चलाया हुआ (चरति) भिन्न भिन्न योनियों में भ्रमण करता है।

इस मन्त्र में जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर में भ्रमण करना अर्थात् जाना आना वर्णन किया है और यह क्रिया व्यापक में हो नहीं सकती अतः जीव अणु है।

अव्यसश्चव्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया। ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे।
अ० १६।६८।१

(अव्यसः) अव्यापक अर्थात् अणु (व्यचसः) और विविधि गतियों (उत्क्रान्ति, गति, आगति) वाले हम (विपूर्वादञ्चेर्बाहुलकादसुन्) (मायया) अविद्या से (बिलम्) छिद्र—अर्थात् मोहादि दोषों से (विभक्तिव्यत्ययः) (कर्माणि कृण्महे) कर्म कर रहे हैं (अथ) अब (ताभ्याम्) उन अविद्या और दोष से अर्थात् उनकी आक्रान्ति से (वेदमुद्धृत्य) ज्ञान का उद्धार कर (वि-स्यामि) उन दोषों का अन्त करते हैं। (वचनव्यत्यय)।

इस मन्त्र में जीव को साक्षात् "अव्यस" अव्यापक पद से अणु कहा गया है, और उसकी उत्क्रान्ति आदि गतियों का भी वर्णन किया गया है।

वेद के द्वारा जीव के अणु परिमाण का साक्षात् कथन हो जाने पर अब इसके परिमाण के सम्बन्ध में किसी संशय का अवकाश नहीं रहा। अतः हम अपने इस कथन को यहीं समाप्त करते हैं।

आ०-बो०—पूज्य महर्षिगण! तथा उपस्थित सभासद् सज्जनो! प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद आदि विद्वान् महर्षियों के अन्तिम निर्णय से आज के वाद का विषय निर्धारित हो गया है, आप सब ने इसे सुन ही लिया है, परन्तु मैं अपने कर्तव्य के अनुसार एक बार फिर इसकी घोषणा किये देता हूँ, आप सब ध्यान से सुनें। आज जीवात्मा के परिमाण के विषय में विचार विनिमय आरम्भ हुआ था, और अब उसका अणु परिमाण निश्चित हो जाने के बाद उसकी समाप्ति के साथ ही सभा का कार्यक्रम समाप्त किया जाता है, अग्रिम सभा के लिये जो विचारणीय विषय प्रस्तावित होगा उसकी सूचना पत्रों द्वारा आपको पहुँचा दी जावेगी।

अन्त में मैं पूज्य महर्षियों तथा सभा में भाग लेने वाले अन्य महानुभावों का धन्यवाद करता हूँ कि आप सब ने प्रेमपूर्वक विचार-विनिमय किया और सुना है।

ज्ञानानन्द—मित्रगण! हम सब यहाँ पचास मील की लम्बी यात्रा कर सत्संङ्ग से लाभ उठाने के लिये जिस भावना से आए थे भगवान् की कृपा से वह पूर्ण हुई। सब लोग जा रहे हैं आइये अब हम भी घर को चलें। ओ३म् शान्तिः

वैदिक वर्णव्यवस्था

[ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी]

(१) वर्णव्यवस्था का स्वरूप

वेद में पुरुष सूक्त में, जहां पुरुष नामक भगवान् से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, पुरुष-समाज अर्थात् मनुष्य-समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसे चार विभागों में बांटा गया है। इन विभागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य समाज के इन चार विभागों का वर्णन करने वाला पुरुष सूक्त का निम्न मन्त्र है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्० १०।९७।१२ यजुः० ३१।११
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ अथर्व० १९।६।६

अर्थात्—"(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस मनुष्य समाज का (मुखं) मुख है (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य है (तत्) वह (ऊरू) जंघायें हैं और (पद्भ्यां) पैरों के लिए (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है।"

अथर्ववेद का मन्त्र थोड़े से पाठ के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का है। अथर्ववेद में ऋग् और यजुः के "बाहू राजन्यः कृतः" के स्थान में "बाहू राजन्यः अभवत्" और "ऊरू तदस्य